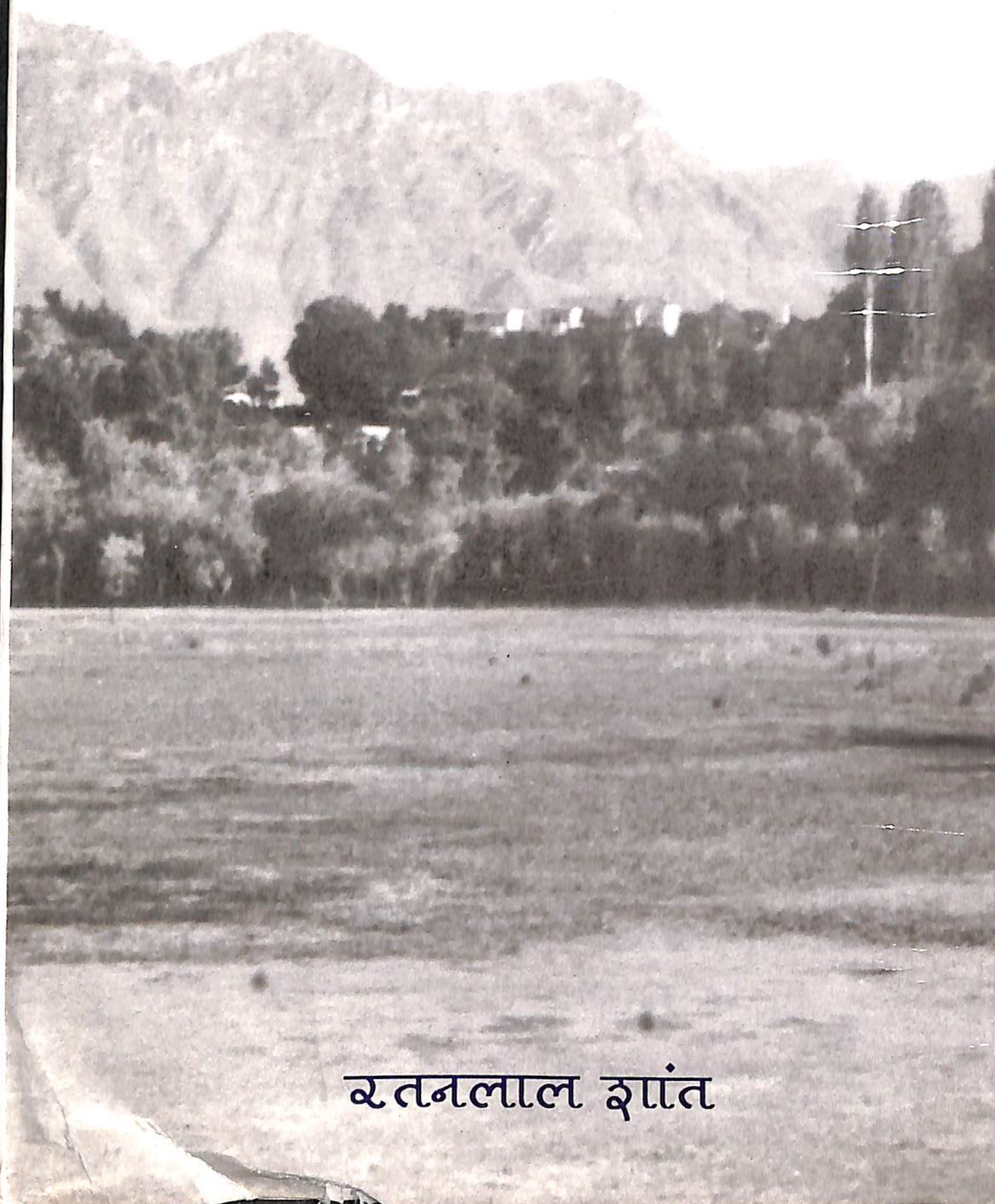
कश्मीर : साहित्यिक संदर्भ



रतनलाल शांत

कश्मीर

पिछले पचास वर्षों में पश्चिम ने जिस गति से हमारे चिंतन और तत्पश्चात हमारी जीवन प्रणाली के भीतर कुरेद कर पैठना शुरू किया है, उसका एक सीधा परिणाम यह निकला है कि अब हमें अपना साहित्य और अपनी साहित्यिक परंपराएं 'अनर्गल' लगने लगी हैं। इस से बनने वाली मानसिकता के फलस्वरूप हमारे 'नवशिक्षित' पश्चिमी संस्कृति के बेमोल दास बनने में एक दूसरे से होड़ लेने लगे हैं। अपनी भाषाओं में लिखा साहित्य उन्हें 'अनर्गल' लगता है, पर अंग्रेज़ी में देशी जीवन के जैसे तैसे चित्र उन्हें प्रमाणिक लगते हैं। इस भावुक पश्चिमीकरण के बड़े एहसान हैं हम पर। एक बड़ा एहसान यह भी है कि हमने कश्मीर जैसे जीवंत (सांस्कृतिक) विषय को सुविधाजनक और मुहर बंद राजनीतिक व्याख्या के थैले में बंद किया है।

●

आज भारतीय बुद्धिजीवी यह भूलता जा रहा है कि भारतीय जीवन और इतिहास को समझने के लिए कश्मीर को इसके संपूर्ण साहित्यिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के साथ समझना और भी ज़रूरी हो गया है। कश्मीर के उस पक्ष को देखना आज ज़्यादा ज़रूरी है जिससे शेष देश के साथ उसकी सांस्कृतिक समानताएं नहीं तो समांतरताएं उजागर हो जाएं और कश्मीर के कश्मीरत्व या भारतीयत्व को प्रमाणित करने के लिए हमें औरों के गढ़े मुहावरे दोहराने न पड़ें।

●



कश्मीर : साहित्यिक संदर्भ



रतनलाल शांत

यह पुस्तक केंद्रीय हिंदी निदेशालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के संस्वीकृति पत्र संख्या 5-2/99. के० अनु०–ए० दिनांक 15-9-1999 के माध्यम से प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित हुई है। कापीराइट अनुदानग्राही के पास है।

प्रकाशक : **नीहार प्रकाशन**
904, सुभाष नगर,
जम्मू – 180 005

टाइप सेटिंग : अक्षरा ग्राफिक्स
नई दिल्ली

मुद्रक : वी.के. प्रिंट्स,
नई दिल्ली

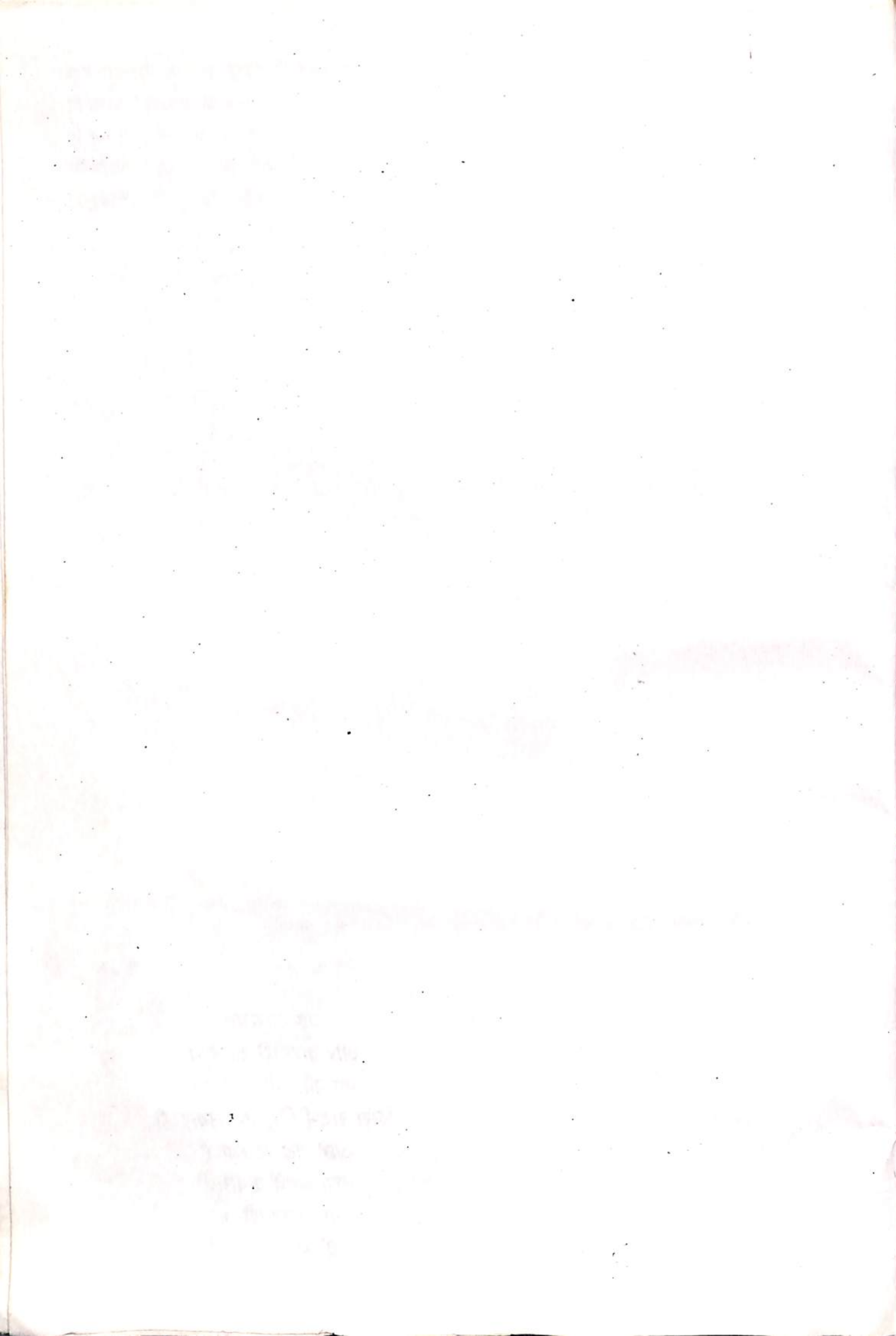
प्रथम संस्करण : 2000 ई.

मूल्य : रु. 55/-

Kashmir : Sahityik Sandarbh (critical essays on Kashmiri literature) by Dr. R.L Shant

Published by Neehar Prakashan. 904, Subhash Nagar, Jammu - 180005
Composed and Typesetting by Akshara Graphics. New Delhi Printed at V.K.Prints New Delhi.

यह अध्ययन
और कश्मीरी साहित्य
का कोई भी अध्ययन
जिस संदर्भ बिंदु को लेकर ही
आगे बढ़ सकता है
उसी आदि कवयित्री
मां ललेश्वरी को
विनम्रता के साथ



सरोकार

पिछले पचास वर्षो की उपलब्धियाँ गिनाते हुए हम शायद कुछ आर्थिक या सामाजिक प्रगति का उल्लेख कर सकें, पर हमारी असफलताओं की सूची लंबी है। राजनीति को अपनी स्वार्थपरक सिद्धि के लिए हमने इतना विकृत किया कि इसका कोई चेहरा नहीं रहा। पर इसके जनतंत्र, समाजवाद जैसे कुछ लोकप्रिय नाम हमने बनाए रखे। जैसी उम्मीद थी, इसने हमारी इयत्ता और जीवन–ऊर्जा को चरना शुरू किया। किसी भी समुदाय की इयत्ता उसके साहित्य और संस्कृति में सुरक्षित होती है। हमारी स्वातंत्र्योत्तर त्रासदियों में सबसे बड़ी यह है कि हमारी आर्थिक और सामाजिक प्रगति का मतलब यह हुआ कि हमारी व्यक्तित्व–निर्माता ऊर्जाएं निरस्त होती जाएँ। हमारी संवेदनाएं स्वल्प मृत्यु का शिकार होती जाएँ। जो कला साहित्य और संस्कृति हमें अपनी भूमि से जोड़ती हैं, उससे हमे कोई मतलब न रहे, इम उसके बिना और उसके बावजूद जीते रहने में खुश रहें। पश्चिमी प्रगति के पैमानों में ढलते हुए हम भूल गए कि पश्चिमी सैनिक जनरल के लिए शेक्सपियर उतना ही महत्वपूर्ण रहा है जितना कोई नया देश जीतना। वहां के व्यापारी के लिए रेंब्रां की रक्षा उतना ही अर्थ रखती है, जितना नए उपनिवेश में बाज़ार खोलना। वहां के ब्यूरोक्रैट के लिए बाख़ या मोज़ार्ट का सुनना उतनी ही अहमियत रखता है, जितना दूर एशिया में राजनीतिक या आर्थिक हितों की रक्षा के लिए अपने बॉस को नीति की सलाह देना। पश्चिमी जन के पास साहित्य और कला के लिए समय की कमी कभी नहीं रही। इस प्रकार पश्चिम ने अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता मनवाई है। हमारे 'नव शिक्षित' इस 'श्रेष्ठता' के बेमोल दास बनने में, तथा इस से बनने वाली मानसिकता की कृपा से अपनी 'देशीय अनर्गलता' से खुद को अलग करने में एक दूसरे से होड़ लेने लगे हैं। अपनी भाषाओं में लिखा अपना साहित्य उन्हें 'अनर्गल' लगा, पर अंग्रेजी में देशी जीवन के जैसे–तैसे चित्र उनके लिए प्रामाणिक हो गए क्योंकि पश्चिमी नज़र वाले अंग्रेजी ज्ञाता के लिए ये प्रामाणिक थे। इस अपरिपक्व और भावुक पश्चिमीकरण के कितने एहसान हैं हम पर! एक बड़ा एहसान यह है कि हमने कश्मीर जैसे जीवंत विषय को सुविधाजनक राजनीतिक व्याख्याओं के मुहरबंद थैले में बंद करके राहत की सांस ली, जबकि इसकी जीवंतता में, इसकी मूल सांस्कृतिक ऊर्जा की पुष्टि में कश्मीरी जन के लिए भी सुख की प्रतिभूति थी और कश्मीर में रुचि रखने वालों के लिए भी।

●

राजनीति के समकालीन ऊहापोह ने कश्मीर को इतना उलझा दिया है कि भारतीय मनीषा यह भूलती जा रही है कि भारतीय इतिहास तथा जीवनतंत्र के निखारने में कश्मीर का वही स्थान है जो उज्जैन, साकेत और काशी का, केरल और जगन्नाथ पुरी का, रामेश्वर और द्वारका का है। केवल धार्मिक शक्ति–स्थल होने के कारण नहीं। साहित्य कला चिंतन की दृष्टि से भी। इसलिए कश्मीर के अराजनीतिक पक्ष को देखने की एक ख़ास ज़रूरत आज

है, विशेषकर उस पक्ष को जिससे उपर्युक्त समांतरताएँ और समीकरण और अधिक संख्या में मिलें और कश्मीर के कश्मीरत्व या भारतीयत्व को प्रमाणित करने के लिए हमें औरों के गढ़े मुहावरे दोहराने न पड़ें।

●

प्रस्तुत अध्ययन का उद्‌देश्य कश्मीर के कुछ उन महत्वपूर्ण साहित्यिक उपक्रमों का एक आलोचनात्मक परिचय देना है, जिन्होंने गत सहस्राब्द के दौरान वहां के जीवन चिंतन की दशा दिशा निश्चित की और जिन्हें विशालतर भारतीय परिवेश में महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। कश्मीरी साहित्य ने जो दिशा विशेषकर आदिकाल और मध्यकाल में ली, उसका सरल रेखीय विकास देखते हुए, उससे आ मिलने वाली अन्य सरल तथा वर्तुल रेखाओं का आकलन करना भी प्रस्तुत अध्ययन का एक उद्‌देश्य है। इसलिए इस पुस्तक में आदिकाल तथा भक्तिकाल पर अधिक बल दिया गया है। पर पाठक कुछ अन्य समांतर काव्य प्रेरणाओं की क्रिया प्रतिक्रिया से अनभिज्ञ नहीं रहे, इसलिए उन का उल्लेख भी यथास्थान किया गया है। कहानी नाटक को उनके छोटे अनुपात में ही यहां स्थान दिया जा सका है। साहित्यिक अनुवाद की परिपाटी हर भाषा में कुल मिला कर एक जैसी होती है, पर साहित्येतर अनुवाद की कश्मीरी भाषा में क्या गति हो सकती है,.इसपर भी एक लेख है। परिशिष्ट के तौर पर कश्मीर की लोकसंस्कृति पर एक रेखाचित्रीय लेख है जिससे उस प्रदेश की लोक–मानसिकता का थोड़ा सा भान हो सके। पृष्ठभूमि अथवा संदर्भ के रूप में।

●

लेखक को आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक से रुचिसंपन्न पाठकों को कुछ संतोष होगा, पर वह इस बात के प्रति सचेत है कि कश्मीरी साहित्य से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण विषय अभी भी हैं, जिन के बारे में प्रस्तुत अध्ययन जिज्ञासाएँ पैदा कर सकता है, उन्हें शांत नहीं कर सकता। इसलिए लेखक शीघ्र ही इस पुस्तक के कम में ऐसा ही दूसरा ग्रंथ अपने आदरणीय पाठकों के समक्ष रखने की प्रतिबद्धता अनुभव कर रहा है।

●

इस ग्रंथ के कुछ परिच्छेद पहले लिखे गए थे, पर उन लेखों को इस पुस्तक में शामिल करते समय नए सिरे से लिखा गया जिससे कश्मीरी साहित्य का यथासंभव संपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया जा सके। यह चित्र कश्मीरी तथा हिन्दी के एक सरोकारी लेखक के मन में पैदा होने वाले उन प्रश्नों से उभरता है जो कश्मीरी साहित्य की मूल प्रकृति से जुड़े हैं। इन प्रश्नों से पाठक भी गुज़रे ताकि कश्मीर की मूल ऊर्जा को समझने में कुछ सहायता मिल सके, इस उम्मीद के साथ——————

●

संदर्भ



कहीं कहीं परिच्छेदों के मध्यांतराल में उन कश्मीरी कवियों की कुछ पंक्तियों के स्वतंत्र अनुवाद दिए गए हैं, जो अपने युग की काव्य प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन कवियों का, इस ग्रंथ में, या तो उल्लेख मात्र किया गया है या फिर इन का सविस्तर अध्ययन नहीं हो सका है। इन के काव्य–उद्धरणों से कश्मीरी कविता के अन्य आयामों की कुछ बानगी मिल सकती है।

कश्मीरी साहित्य ः एक प्रवृत्तिगत सर्वेक्षण

लगभग एक सहस्राब्द में रचे गये साहित्य का सर्वेक्षण करते समय इस बात का डर हो सकता है कि आलेख कहीं नामोल्लेख भर होकर न रह जाए साहित्यकारों—लेखकों का या साहित्यिक प्रवृत्तियों—संप्रदायों—शाखाओं का। ऐसा किसी भी संपन्न साहित्य के सर्वेक्षण में संभव है। उदाहरणतः हिंदी साहित्य एक सहस्राब्द पर फैला हुआ है और इस का ऐतिहासिक सर्वेक्षण संक्षिप्त नाम या संदर्भ बता कर ही किया जाए तो यह नामोल्लेख मात्र होकर रह जाएगा। अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं का उन्मेष ग्यारहवीं बारहवीं शती ईस्वी में हुआ। स्थानीय साहित्यिक पृष्ठभूमि, राजनीतिक—सामाजिक परिस्थितियों, अन्य भाषा साहित्यों के प्रभाव या उनसे आदान—प्रदान आदि कारणों से इन भाषाओं का साहित्य विकसित हुआ। गुणवत्ता और स्तरीयता की बात न करें , केवल मात्रा की दृष्टि से भी इन साहित्यों की वृद्धि ा में उपर्युक्त कारणों ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की होगी। कश्मीरी साहित्य की उम्र भी इन ही भाषाओं जितनी है और इसकी वृद्धि या इसमें आए गतिरोध दोनों के लिए राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियाँ जिम्मेवार रही हैं। इस लिहाज़ से यह साहित्य कोई अपवाद प्रस्तुत नहीं करता। परंतु इसके बारे में सबसे पहले यह स्मरणीय है कि एक तो अन्य उपर्युक्त सह भाषाओं और साहित्यों की तुलना में इसमें मात्रा की दृष्टि से कम रचना हुई, दूसरे इसके इतिहास में बीच बीच में सौ दो सौ वर्षो का काल अंधकारमय रहा। यह सब ध्यान में रखते हुए कश्मीरी साहित्य का सर्वेक्षण केवल नामोल्लेख होने का उतना डर नहीं। यहां मात्र सर्वेक्षण करते हुए भी सतह से थोड़ा गहराई में जाकर साहित्यिक प्रेरणाओं को देखने की कुछ गुंजाइश रहती है।

सुविधा के लिए हम इतिहास का काल विभाजन या अवधि निर्धारण करते हैं। कश्मीरी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन करने के कई उपक्रम हुए हैं, पर अभी तक कोई एक ही सर्वव्यापक सर्वस्वीकृत विभाजन ऐसा नहीं जिसे अंतिम कहा जा सके।

अस्तु ! प्रवृत्तियों के स्पष्ट परिवर्तन तथा साहित्यिक परिस्थितयों के संक्रमण को दृष्टि में रखते हुए काल विभाजन इस तरह करना अध्ययन के लिए सुविधाजनक होगा--

क) आदि काल – (11 वीं शती ई॰ से 1450 ई॰)
ख) मध्य काल – (1450 ई॰ से 1910 ई॰)
ग) आधुनिक काल – (1910 ई॰ से आज तक)

इस काल विभाजन के आधार की चर्चा करने के पूर्व एक दो प्रश्न मन में उठ सकते हैं। उन प्रश्नों से हम कश्मीरी साहित्य के इतिहास पर एक छोटी टिप्पणी भी कर सकते हैं। पहला प्रश्न यह उठता है कि मध्यकाल को इतना लंबा (करीब 500 वर्ष का) बताने बांध ने का जो भी आधार हो, इससे "मध्यकालीनता" की मानसिकता के लंबे विस्तार के संकेत मिलते हैं। ये संकेत कश्मीरी साहित्य की सामान्य प्रकृति की एक अलग कहानी तो नहीं कहते? ऐसा सोचना ठीक भी है। कश्मीरी साहित्य के मध्यकाल के विस्तार के शेषाँश 1910 ई॰ के बाद भी दिखाई देते हैं। "मध्यकालीनता" के सबसे बड़े द्योतक सूफ़ी कवि आज तक हैं और ऐसी कविता लोकप्रियता में आज भी सब से आगे है। मध्यकाल की सी भक्ति (लीला और नात) कविता आज तक लिखी जा रही है। स्पष्ट है कि मध्यकालीन मानसिकता से कश्मीरी कवि आज तक पूरी तरह से मुक्त नहीं है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि गद्य की विभिन्न विधाएँ जहां अन्य भारतीय भाषाओं में 19 वीं शती में आरंभ हुई वहाँ कश्मीरी में इनका विधिवत् उदय स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही क्यों हुआ ? इस प्रश्न का संबंध सीधे पहले प्रश्न से है। गद्य की शुरुआत भारत में पश्चिमी भाषा तथा साहित्य से तथा आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओं जैसे रेल प्रेस बिजली आदि के प्रभाव से हुई। कश्मीर में एक तो ये सुविधाएँ, भौगोलिक अलगाव के कारण देश के बाकी भागों की तुलना में बहुत देर से पहुँची। दूसरे मध्यकालीन मानसिकता ने यहां के जन को, मातृभाषा के माध्यम से आधुनिक ज्ञान अपनाने से रोके रखा।

इस काल विभाजन का आधार काव्य प्रवृत्तियों का समीकरण तथा लघुतम साझी विशेषताओं का वर्गीकरण है। आदिकाल में धार्मिक दार्शनिक या अर्धदार्शनिक कविता की रचना हूई। प्रवृत्तियों में सब से प्रमुख थी शैव (त्रिक) मत या वाम मार्गी और तांत्रिक चिंतन से प्रभावित कविता। इस काल की चार स्तंभ रचनाओं (चार ही उपलब्ध हैं) शितिकंठ के "महानय प्रकाश", "छुम्म" कविता (पद), ललेश्वरी के "वाख" तथा नुंद ऋषि के 'श्रुक' तथा गीतों में से प्रथम तीन का संबध कश्मीर के शैवदर्शन से है। लल ने इस दर्शन से केवल मूल आधार लिया। उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में दर्शन गौण तथा काव्य प्रमुख हो उठता है। नुंद ने शैवमत तथा इस्लाम दोनों से धर्म—दर्शन की भूमिका ली और उसे काव्य में ढाला। 'छुम्म' संप्रदाय के पदों की रचना ग्यारहवीं शती में कब हुई यह अभी तक अंतिम रूप में कहा नही जा सकता है और न ही इस सम्प्रदाय के किसी साधक या कवि का कोई व्यक्तिगत परिचय मालूम हो सका है। इन पदों में कही हुई बातें सांप्रदायिक अनुभव, शील तथा नियमावली से संबद्ध हैं। 'महानय प्रकाश' 13वीं शती के शितिकंठ का रचित है और इस का प्रतिपाद्य लेखक के शब्दों में "महा अर्थ का प्रकाश" करना है। इसमें वाणी की विभिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न देवियों के माध्यम

से महान अर्थ की प्राप्ति का पथ वर्णित किया गया है। लेखक का मंतव्य है कि साधक को "शाक्तोपाय" तथा "शांभवोपाय" से ज्ञानसिद्धि, मंत्रसिद्धि आदि प्राप्त हो जाती है। इस ग्रंथ में तांत्रिक प्रक्रियाओं के वर्णन को छोड़कर रचनाशीलता का कोई उपक्रम नजर नहीं आता। ललेश्वरी शैव योगिनी कवयित्री थी, जिसने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ तथा सामूहिक जीवन के बारे में प्रभाव तथा प्रतिक्रियाएं, भाषा के रचनात्मक प्रयोग द्वारा प्रकट कीं और कश्मीरी भाषा की रचनात्मकता को एक नया आयाम दिया। उनके "वाख" कई दृष्टि से आज तक अप्रतिम बने हुए हैं। लल के ही कनिष्ट समकालीन नुंद ऋषि ने जन तथा संवेदनशील वर्ग में प्रचलित शैव परंपरा के साथ नवागंतुक इसलाम के दार्शनिक मानववादी पक्ष का सम्मिश्रण किया और इसे "ऋषि परंपरा" या "ऋषि वैचारिकता" का नाम दिया। उनके "श्रुकों" में धार्मिक टीकाकारिता से लेकर शुद्ध संवेदनशील रचना दोंनों के दर्शन होते हैं। नुंद की मृत्यु (1438 ई०) के साथ ही कश्मीरी कविता के इस धार्मिक–अर्धदार्शनिक काल का अंत माना जा सकता है। यह अलग बात है कि नुंद के कई "ऋषि–शिष्य" हुए और उनमें से कई कई वर्षों तक उनके तथा लल के–से अर्धदार्शनिक "वाख" या "श्रुक" (दोनों में छंद का विशेष अन्तर नहीं) रचते रहे, पर स्तर की दृष्टि से इन दो विधाओं तथा इन विधाओं के अंतर्गत आए कथ्यों का अंत इन दो महाकवियों के साथ ही हुआ।

कश्मीरी काव्य में जब धर्म तथा दर्शन सीधी प्रेरणा के स्रोत नहीं रहे तथा बल इनके लौकिक रूप तथा लौकिक व्याख्या पर दिया गया तो काव्य प्रवृत्ति और कवि चिन्तन में स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। ललेश्वरी तथा नुंद ऋषि में जिस लौकिक तत्व को संदर्भ मात्र के रूप में लिया गया था, वह उनके बाद की कविता में प्रमुख हो गया। इस स्पष्ट परिवर्तन के साथ ही हम साहित्य में नए युग का आरम्भ मान सकते हैं। इस युग में काव्य में दो मुख्य धाराओं का विकास अलग सन्दर्भों में तथा अलग वस्तु–शैली–विधा के प्रचलन के साथ हुआ। सन्दर्भ या तो कश्मीरी कविता–परम्परा के ही थे जो मूलतः स्थानीय हिन्दू संस्कृति द्वारा प्रवर्तित थे, या कश्मीर में प्रवेश करने वाली पश्चिम एशियाई मुस्लिम संस्कृति तथा अरबी साहित्य द्वारा अनुमोदित थे। पन्द्रहवीं सदी ई० से लेकर बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों तक का यह काल विभिन्न वस्तु–संदर्भों वाली कविता के बावजूद मूल सोच की समानता की दृष्टि से एक ही युग कहला सकता है। यह सोच थी इहलौकिकता की तथा धर्म और दर्शन को ज्यादा ठोस दुनिया के लिए प्रासंगिक बनाने की। हम देखते हैं कि उपर्युक्त प्रथम संदर्भ की कविता परम्परा में "बाणासुर कथा" (भट्ट अवतार) (15वीं शती) को छोड़कर, शेष अर्थात् 'जन्मचरित' (साहिब कौल) (18वीं शती)' 'रामायण' (प्रकाशराम) 'राधा स्वयंवर', 'शिंवलग्न', 'सुदामा चरित' (परमानन्द) 'शिवलग्न' तथा अन्य सैंकड़ों गीतों (कृष्णजू राज़दान) का विषय भक्ति है। इनमें भक्ति की व्यक्तिगत अनुभूति नई काव्य विधाओं को जन्म देती है। "बाणासुर कथा" हरिवंश पुराण पर आधारित एक प्रबन्ध कविता है। उसमें बल अनिरुद्ध तथा उषा के प्रणय पर दिया गया है, यद्यपि कृष्ण–बाणासुर युद्ध ही काव्य रचना का उद्दिष्ट रहा है। इसके स्वतंत्र प्रणय गीतों में प्रेम की व्याकुलता तथा विरह की पीड़ा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है। तीन सौ वर्ष बाद साहिब कौल ने (18वीं शती) "जन्मचरित" लिखकर कृष्ण भक्ति की "लीला" विधा को प्रचलित किया.। "लीला" के अन्तर्गत प्रबन्ध काव्य भी रचे गए

पर ज्यादातर स्वतंत्र गीत ही लिखे गए। तीन सौ वर्ष का अंतराल तब ज्यादा बड़ा दिखता है, जब केवल एक विशेष काव्य परम्परा (जिसे ऊपर स्थानीय कश्मीरी परम्परा कहा गया) का विकास अलग देखा जाए। वरना इस अंतराल के दौरान कश्मीरी कविता की अन्य धाराएं अनवरत (यद्यपि विरल) चलती ही रहीं।

अवतार भट्ट के प्रबन्ध काव्य में गीतों और गीतात्मकता की प्रभविष्णता ने हब्बाखातून (1555-1605 ई०) तथा अरिनिमाल (1737-1778) जैसी मधुरगीत–कोकिलाओं को जन्म दिया। हब्बा (यूसुफशाह चक की रानी) तथा अरिनि (अफगान शासकों के दरबारी फारसी कवि भवानीदास काचरू की पत्नी) दोनों के विरह गीत कश्मीर के खेत खलिहान में उसी प्रकार प्रेम से गाए जाते रहे जिस तरह मध्यमवर्गीय घरों तथा राजपरिवारों में इनसे माधुर्य तथा कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति को प्रश्रय मिला। इन लोकरस भीगी कवयित्रियों ने अपने समय की तथ परवर्ती कविता को मधुर गेयता का तत्व प्रदान किया। परवर्ती कविता चाहे लीला भक्ति की हो चाहे फारसी साहित्यिक परम्परा अथवा इस्लामी रहस्यवादी सूफी परम्परा की।

नुंद ऋषि के समय से ही इस्लामी विचारधारा कश्मीर में नव–मुसलमानों तथा अन्य लोगों को प्रभावित करने लगी थी और फारसी–अरबी के माध्यम से धर्म–वार्ता–साहित्य के संदर्भ के रूप में आने लगी थी। साहित्य पर इस प्रभाव के आरम्भिक दर्शन महमूद गामी (1765-1855) में हुए। महमूद ने फारसी की कुछ मसनवियों को कश्मीरी में रूपांतरित किया या उन्हें नए सिरे से ही लिखा और यों अगली पीढ़ियों के विदेशी ही सही, परंतु समृद्ध फारसी परम्परा से विषय वस्तु आयातित करने का मार्गदर्शन किया। उनकी "यूसुफ जुलेखा", "लैला–मजनूं, "शीरीं खुसरों" जैसी मसनवियां थीं तो फारसी से स्पष्टतया प्रभावित, पर इनसे कश्मीरी कवियों को फारसी के आतंक से मुक्ति मिली और उन्होंने फारसी की अपेक्षा मातृभाषा कश्मीरी में स्वयं को अभिव्यक्त करना शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि कश्मीरी में मसनवीकारों की बाढ़ सी आ गई। कवियों ने यद्यपि सीधे अनुवाद की सीमा तक मूल वृत्तों को मातृभाषा में उतारा, पर स्थान–स्थान पर मूल के वातावरण कथा–चरित्र–घटना का कश्मीरीकरण किया और यहीं उनकी मौलिकता है। मसनवीकारों में वलीउल्लाह मत्तू (हीमाल नाऽग्यराय) मकबूल शाह क्रालवारी (गुलरेज) नाज़िम (जैन–उल्–अरब) सैफुद्दीन तारबली (सहरे हिलाल) मुहीउद्दीन मिस्कीन (सोहनी महिवाल) अजीजुल्लाह हक्कानी (चन्द्रबदन) आदि उल्लेखनीय हैं। कई कवियों ने फारसी मसनवियों कें प्रेम तत्व के महत्व के कारण समानांतर भारतीय प्रेमाख्यानों को लिया। कई मसनवीकारों ने "जंगनामे" लिखे जो फारसी के ही इस शैली के काव्यों या युद्ध की घटना की प्रमुख्ता वाली मसनवियों से प्रेरित थे। "जंगनामे" या युद्धकाव्य लिखे जाने के पीछे कुछ आलोचक जनता के राजनीतिक पराधीनता और सांस्कृतिक पराजय के प्रति प्रतिरोध को देखते हैं, क्योंकि सदियों से कश्मीर के इतिहास में शोषण और उत्पीड़न का दौर चलता ही रहा था। भूमिपति, राजाओं, जागीरदारों और विदेशी (तुर्कों, पठानों) का पारस्परिक राज–संघर्ष लोगों को न चैन और न ही अवकाश प्रदान करता था। जंगनामों के कवियों ने इस बेचैनी को स्वर देने के लिए फारसी अरबी के इतिहास–मिथक–पुराण से वृत्त या चरित लेकर उन्हें अपने शब्दों में काव्यबद्ध किया। कई बार कवियों ने मुस्लिम योद्धाओं और

"काफिरों" के बीच के युद्धों का अवास्तविकता तथा अतिशय से पूर्ण वर्णन किया। इस दौर की (19 वीं शती के उत्तरार्ध) प्रेमाख्यानक मसनवियों को "बज्मिया" तथा युद्धाख्यानक मसनवियों को "रज्मिया" कहा गया। प्रसिद्ध रज्मिया कारों में लक्ष्मण कौल बुलबुल (साम नामा) वहाबपरे (शाहनामा) का अनुवाद, अमीरशाह क्रीरी (सामनामा) सिद्दीक उल्लाह हाजनी (सिकन्दरनामा) मुजफ्फर हसन (जंगे–मुख्तार) पीर गुलाम मुहम्मद हनफी (मृत्यु 1938 ई०) हैं। इन कवियों ने एक तो फारसी मसनवियों के स्वतंत्र पद्यानुवाद करते हुए अपनी समकालीन राजनीतिक–सामाजिक दशा का वर्णन किया, दूसरे अलग से काव्य भी लिखे या गजलें कहीं जिनसे अन्दाजा होता है कि उन्नीसवीं शती के अंत तक आते–आते कवियों में अपनी जातीय अस्मिता की स्थापना की ललक पैदा हो गई थी। सन् 1875 ई० में जम्मू के राजा गुलाबसिंह ने अपनी सत्ता को दृढ़ करते हुए अंग्रेजों से कश्मीर घाटी "खरीद" कर जम्मू–कश्मीर राज्य की स्थापना की। अधिसंख्य कवियों के लिए अब समस्या केवल मुसलमान–काफिर की नहीं रही, न कश्मीरी विदेशी के मूल्य–संघर्ष की बल्कि कश्मीरी–गैर कश्मीरी की थी, जो आगे चलकर स्वाधीनता की अखिल भारतीय राष्ट्रीय चेतना के उदय के साथ ही साथ राजतंत्र बनाम गणतंत्र के राष्ट्रीय आन्दोलन के समानान्तर रूपायित हुई। लेकिन ऐसा बीसवीं शती के तीसरे चौथे दशक में ही हो सका। उन्नीसवीं शती, जैसा पहले कहा जा चुका है, कुल मिलाकर मध्यकालीन मानसिकता से ही घिरी रही।

कश्मीरी पर फारसी भाषा साहित्य तथा संस्कृति परम्परा के प्रभाव का उल्लेख तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक इस प्रभाव से आई "गजल प्राय विधा" का जिक्र न हो। कश्मीरी गजल प्राय विधा का पहला उन्मेष महमूद गामी में हुआ। इस प्रकार यह विधा करीब दो सौ वर्ष का इतिहास संजोए हुए है और इस दौरान इस ने फारसी पिंगल की नियमावली के घेरे के भीतर रहकर कश्मीरी कवि की मनस्थिति को अभिव्यक्ति दी। जहां "वचुन" कश्मीरी लोकमानसिकता तथा जातीय सौन्दर्य बोध का वाहक छंद रहा, वहां यह ग़ज़ल प्राय विधा शिक्षित या फारसी परम्परा–पुष्ट अभिव्यक्ति का साधन बनी रही। इस को महमूद के बाद, उसके कनिष्ट समकालीन रसूलमीर (मृत्यु 1870) ने विकसित करके नखशिख वर्णन तथा प्रेम की विविध अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सशक्त साधन बनाया। "महजूर" (1885-1952) ने इस विधा को फारसीयत से मुक्त करके इसे कश्मीर के मानवीय तथा प्राकृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न कर दिया। अब यह विधा गजल सी न रह कर गजल ही हो गई। महजूर ने ग़ज़ल तथा वचुन दोनों को आधुनिक भावबोध और नई भाषा दी। उनकी ग़ज़लें बीसवीं शती के राजनीति–चेतन कश्मीर में उतनी ही लोकप्रिय हुई जितनी उनसे पहले रसूलमीर की सौन्दर्यवादी 'गजलें' हुई थीं। 'महजूर' के साथ–साथ अब्दुल अहद "आज़ाद" ने (जो महजूर से 18 वर्ष छोटे थे पर उनसे 4 वर्ष पूर्व मरे) कश्मीरी गज़ल को उस स्थान पर पहुंचाया जहां से वह स्वातंत्र्योत्तर भावभंगिमा के सक्षम वाहन के रूप में आगे बढ़ सकी। 'आज़ाद' 'महजूर' की अपेक्षा अधिक चिन्तनशील (क्रान्तिकारी मानववादी) थे और उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी कविता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

मध्यकाल की एक सशक्त काव्य प्रवृत्ति सूफी कविता के रूप में विकसित हुई जिसने

उन्नीसवीं शती के ही नहीं, बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक बहुत से कवियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया। तसव्वुफ (इस्लामी सूफी रहस्यवाद) धर्ममूल होने के कारण करीब दो सौ वर्ष तक ठोस सैद्धांतिक रूप में या केवल अर्थछाया के रूप में पूरे साहित्यिक परिदृश्य पर हावी रहा है। इसका आरम्भ यों तो नुंद ऋषि के काव्य में हुआ पर उनकी मृत्यु के करीब चार सौ वर्ष बाद उसे विधिवत अपनाया—शाहगफूर तथा स्वछ क्राल (1857) नामक कवियों ने। यों तो स्वछकाल के समकालीन महमूद गामी में भी रहस्यात्मकता के संकेत मिलते हैं, पर महमूद का उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष विषय तथा वस्तु को लेना था। सूफी रहस्यवाद नुंद से लगातार चलता रहा है और इसे जीवित रखने वाले ऋषि (इस्लामी रहस्य—साधना के फकीर संत) थे जो कभी कबार तुकबंदी भी किया करते थे। ऋषियों का तसव्वुफ कश्मीर शैव दर्शन के प्रभाव से काफी परिवर्तित हुआ और असली मायनों में ऋषि—फकीरों की संगीत महफिलों में पनपा। वेदांत के "सोऽहं"की अनुगूंज को स्वीकारना तथा बंदे और खुदा के बीच रागात्मक सम्बन्धों को रहस्यात्मक बिम्बों में चित्रित करना कश्मीरी सूफी कविता की विशेषता है। उपर्युक्त कवियों के अलावा न्याम साहब (1805-1880) रहमान डार (? - 1900) वाज़ा महमूद (1845-1924) शम्स फकीर (1843-1904) अहमद बटवारी, समदमीर, अहदज़रगर (मृत्यु 1984 ई०) जैसे क़वियों की श्रृंखला आज तक बनी रही। सूफी कविता का सबसे बड़ा सत्य यह है कि इसने कश्मीर की पारम्परिक हिन्दू रहस्यसाधना की रक्षा करते हुए उसे इस्लामी तसव्वुफ की ध्यान—केन्द्रित उपासना—पद्धति से सम्पन्न कर दिया और संगीतमय प्रगीत द्वारा समभाव तथा मानवसमता के मूल्यों को सुदृढ़ किया।

कश्मीरी भक्ति काव्य की जड़ें चौदहवीं शती की कविता (ललेश्वरी के वाखों) में पाई जाती हैं। लल की भक्ति निर्गुण थी, पर उसने अपने प्रिय को स्नेह, करुणा, ममता के गुणों से भी अलंकृत किया। उसने आराध्य के प्रति मीरा की तरह समर्पण और सान्निध्य का भाव जतलाया, पर उसमें विचार और दार्शनिकता सदा मौजूद रही। इस प्रकार की भावना परवर्ती कवियों में किसी हद तक केवल रूपाभवानी (1625-?) के आध्यात्मिक रहस्यवाद में पाई जाती है। रूपा के करीब सौा वर्ष बाद साहिबकौल के "जन्मचरित" तथा "कृष्णावतार लीला" काव्य रचे गये और फिर सौ वर्ष के एक और अंतराल के बाद जब उन्नीसवीं शती में प्रकाशराम (? - 1885) ने "रामावतार चरित" अथवा "प्रकाश रामायण" की रचना की तो फिर सगुण भक्तिकाव्य का सिलसिला अनवरत चलता ही रहा। सूफी काव्य की तरह कश्मीरी का भक्ति काव्य (जो साहिब कौल से "लीला काव्य" नाम से अभिहित किया जाने लगा था और जिसमें सामान्य भक्ति काव्य के अलगाव के बिन्दु स्पष्ट होने लगे थे) भी उन्नीसवीं सदी के बहु आयामी रचना युग की देन है। सूफी काव्य की ही तरह लीला काव्य भी आज तक रचा जा रहा है। समकालीन सूफी काव्य में रहस्यात्मक क्लिष्टता है, जिससे उसका सम्प्रेषण बाधित हो जाता है, पर समकालीन लीलाकाव्य में रहस्यवादिता पर जोर नहीं, न ही पौराणिक सन्दर्भों से आराध्य तथा आराधक के सम्बन्धों की पुष्टि की जाती है। समकालीन राजनीतिक सामाजिक प्रतिकूलता की स्थिति में लीला कवि अपने आराध्य के मन में करुणा तत्व की जागृति का बराबर आह्वान करता है। ऐसा करते हुए उसे पारम्परिक दार्शनिकों से ज्यादा आधुनिक तथा समकालीन चिन्तनधाराओं से प्रभावित देखा जा सकता है।

कश्मीरी साहित्य के आधुनिक युग का आरंभ महाकवि गुलाम अहमद ''महजूर'' (जन्म 1895) के रचनाकाल (1910) से माना जाता है। '' महजूर '' तथा उसकी प्रेरणा से '' आज़ाद '' ने कश्मीरी कविता को वास्तव में न केवल समकालीन कश्मीरी तथा राष्ट्रीय चिंतनधारा के समकक्ष खड़ा करने का प्रयत्न किया बल्कि इस कविता को अर्धदार्शनिक मुद्रा वाली परलोकोन्मुखता से मोड़कर सांसारिक सौन्दर्य तथा अवसाद के यथार्थ की पहचान दी। ''महजूर'' की ''किसान कन्या'' ने हुस्न–व–इश्क के फारसी परम्परा पुष्ट वर्णन के बदले सामाजिक चेतना तथा साधारण में असाधारण देखने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उनकी बीसियों गज़लों में गुल, बुलबुल बहार नए प्रतीकार्थों से लैस होकर आए हैं। नए युग के आगमन के स्वागत तथा बगिया में आंधी–तूफान पैदा करके क्रान्ति लाने के संदेश से उनकी रचना संयुत है : यद्यपि, इस कविता का बड़ा भाग रूमान तथा प्रेमोल्लास से भरा पड़ा है। ''महजूर'' की अपेक्षा ''आज़ाद'' की क्रान्ति–चेतना, भाषा को ओज देकर ही चुक नहीं जाती बल्कि उस का आधार मानववादी वैचारिकता है। इस दृष्टि से आज़ाद का स्वर आधुनिक भावबोध के ज़्यादा निकट है। उनकी ''नदी", ''आबशार", ''इबलीस से शिकवा" जैसी कविताएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। महजूर तथा आज़ाद के साथ मास्टर जिन्दा कौल (1884-1965) को भी रखा जा सकता है। क्योंकि जहां प्रथम दो कवियों ने बीसवीं शती की पहली अर्धशती में सूफी अर्धदार्शनिकता की मुद्रा को एकदम नकार कर कविता को यथार्थ के परिवेश से जोड़ दिया, वहां मास्टर जी ने भक्ति की परम्परा पुष्ट रसमयता को भी बनाए रखने का कार्य किया। इससे परवर्ती आधुनिक कवियों (जिसमें प्रगतिवादी ''नादिम'' भी हैं) में रसमयता की निरन्तरता बनी रही। जैसा कि ऊपर कहा गया है, तसव्वुफ के संप्रेषण –क्लिष्ट मुहावरे ने जहां कविता को पहेली – प्राय बना दिया था, वहां लीला में स्पष्टता के साथ, समकालीनता के चित्रण की गुंजाइश हमेशा बनी रही। लीला को यह आयाम देते हुए मास्टर जी उसे आधुनिक पश्चिमी रहस्यवादी भंगिमा भी प्रदान करते हैं, जो दो विश्वयुद्धों के कारण पैदा हुई और जो मनुष्य के शंका, भय, अनिश्चय जैसे प्रश्नों से दो–चार होने के अनुभव से जन्मी। आधुनिक यथार्थ तथा रहस्यों के प्रति अवसादमूलक प्रश्नाकुलता की गूंज आगे चलकर मीर गुलाम रसूल नाज़की (1909-1997) फाजिल कश्मीरी (1914-) अर्जुन देव मजबूर रसाजाविदानी, शंभुनाथ भट्ट ''हलीम'', मोती लाल साकी (1936-1999) गुलाम रसूल संतोष (1929-1997) तथा मंजूर हाशमी (-1996) की कविता में बनी रही। पर इन कवियों का कृतित्व अन्य विशेषताओं से भी सम्पन्न है जिन्हें संदर्भ विशेष में आकलित किया जा सकता है।

आधुनिक कश्मीरी साहित्य के इतिहास की सबसे बड़ी घटना इसमें प्रगतिवाद का उदय है (1948) क्योंकि इसने न केवल पारम्परिक काव्य परम्परा और चिन्तन की जड़ें हिला कर रखदीं, बल्कि नए लेखकों की एक पूरी जमात पैदा की। प्रगतिवाद के उदय के कारण वही थे तथा प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रेरित काव्य की प्रकृति वैसी ही थी जैसी देश में और भाषाओं में थी और इस दृष्टि से इसने कश्मीरी काव्य का वैसा ही हित (और अहित) किया जैसा अन्य साहित्यों का किया। पर यहां इस आन्दोलन ने नाटक तथा पत्रकारिता में काफी वृद्धि की तथा सबसे बढ़कर कुछ विधाओं जैसे कहानी, उपन्यास, आलोचना, रिपोर्ताज, यात्रा–वर्णन को पहली बार जन्म दिया।

प्रगतिवादी कविता के शीर्षस्थ कवि दीनानाथ ''नादिम'' (1916-1988) ने कश्मीरी कविता को ओज तथा प्रवाह के साथ–साथ नवीन छंद रचना तथा अछूती लोकरंजक शब्दावली से अभिषिक्त किया। उनकी ''मैं आज नहीं गाऊंगा'' और ''मुझको आशा है कल की'' कविताएं युद्ध और शान्ति की समस्याओं पर समाजवादी सोच प्रस्तुत करती हैं। अपनी परवर्ती रचनाओं जैस ''मिश्री और कड़वे पत्ते'' तथा ''हादसे'' के अलावा कई गजलों में नादिम ने सशक्त बिम्ब रचना द्वारा कश्मीरी कविता में नई अभिव्यंजना की संभावनाओं का पता पहली बार लगाया। नादिम के समकालीन कवियों में रहमान राही, अमीन कामिल, मुजफ्फर ''आजिम'' तथा मखनलाल "बेकस" हैं जिन्होंने बाद में प्रगतिवादी परम्परा से अलग होकर नवीन यथार्थ के अंकन के प्रति ज्यादा रुचि प्रदर्शित की। ''राही'' जहां एकांतिक व्यक्ति–चिंतन तथा अस्तित्ववादी प्रश्नों से जूझते हैं वहां ''कामिल'' (विशेषकर ''गज़ल'' को नई दिशा देते हुए) समकालीनता को नए अर्थ देने के लिए भाषा की नई भंगिमा प्रस्तुत करते हैं। उनकी ''नग्न–अर्थ'' और ''पैर की छाया में पैर'' ने कश्मीरी कविता (विशेषकर गज़ल) को अपूर्व लाक्षणिकता का गुण प्रदान किया। गुलाम नबी ''फिराक'', अर्जुनदेव ''मजबूर'', अब्दुर्रहमान ''आजाद'', अब्दुस्सतार रंजूर, मोहन लाल आश, वासुदेव ''रेह'' आदि में रोमानी स्वप्नों के भंग होने का दर्द तथा नई हकीकतों को देखने की ईमानदार कोशिश मिलती है। बाद की पीढ़ी के कवियों में (''चमन'', ''बेकस'', ''साकी'', ''मशअल'', ''कंवल'', ''मसर्रत'', ''मरगूब'', ''नाज़की'', ''पोंपुर'') यथार्थ को तीक्ष्ण दृष्टि से देखने तथा व्यंग्य की प्रवृत्ति प्रमुख है। शफी शौक, गुलशनमजीद, रफीक राज, म०ह० जफर, बालकृष्ण सन्यासी, अयूब बेताब रत्नलाल जौहर, बशीर अतहर, ब्रज नाथ बेताब आदि कवियों में जीवन की विसंगतियों को स्वीकार कर, निपट अकेलेपन की स्थिति में अस्तित्व के प्रश्नों से जूझने की मुद्रा मिलती है। इस समय कविता की प्रवृत्ति निरपेक्ष आत्मानुभव तथा उदासीन सामाजिकता की अभिव्यक्ति की ओर है और यह भावना यथार्थवादी सोच का एक अतिवादी छोर है। इससे कश्मीरी भाषा का एक हित जरूर हुआ है। उसमें गहन वैयक्तिक अर्थों की खोज का सिलसिला चल पड़ा है। जहां ऐसा नहीं है वहां समकालीन राजनीतिक भयाक्रान्ति तथा संत्रास कवियों की प्रतिबद्धता बनकर उभर रहा है। यह दूसरी तरह का अतिवाद है।

कश्मीरी में गद्य की शुरूआत बाइबल के अनुवादों से (शारदा लिपि में 1821 में, फारसी लिपि में 1884 में तथा रोमन में 1897) में हुई। फिर मौलवी याह्या की कुरान की ''तफ़सीर'' (टीका) तथा नूरुद्दीन की ''कश्मीरी मिसलों की किताब'' लोकप्रिय फारसी लिपि में बातचीत के गद्य में लिखी गई। रामजू दर की (1875 में) ''ज्यामिति की पुस्तक'' में गद्य रचना के कुछ नमूने उपलब्ध हैं। गैर साहित्यिक गद्य रचना के ऐसे ही प्रयास प्रो० श्रीकंठ तोषखानी ने भी किए। नॉवेल्स ने कश्मीरी की लोककथाओं का पहला संकलन 1893 में प्रकाशित किया। श्री प्रताप कालेज की पत्रिका ''प्रताप'' में कश्मीरी गद्य के प्रकाशन (1936) को विशेष स्थान दिया जाने लगा। फिर महजूर द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित कश्मीरी के पहले समाचार पत्र ''गाश'' (1939) से गद्य लेखन की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई। ''गाश'' से पूर्व लाहौर से निकलने वाले ''बहारे कश्मीर'' (1923) में तोषखानी के ''लीला'' नामक उपन्यास के कुछ भाग धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए थे, पर ''गाश'' में समाचार, टिप्पणी के अलावा रचनात्मक साहित्य के

रूप में कुछ कविताएं आदि भी छपीं। 1929 ई० में नंदलाल कौल के नाटक "सत्य की कसौटी" से नाटक के लेखन की शुरूआत हुई और कुछ काल बाद 1938 में मुहीउद्दीन हाजनी ने "किसान का घर" नाटक लिखा। साहित्यिकता की दृष्टि से ये दो नाटक कश्मीरी नाटक की नींव दृढ़ करने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पारसी मंच के लिए कई नाटककारों ने नाटक लिखे जिनमें ताराचन्द बिस्मिल का "सत्य का पथ" और "प्रेम की कसौटी", नीलकंठ शर्मा के "स्वप्न वासवदत्ता", "बिल्वामंगल" आदि उल्लेखनीय हैं। कश्मीरी गद्य रचना में इन नाटकों की बड़ी सहायक भूमिका रही है। स्वतंत्रता से पहले अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक–रचना के प्रयास ज्यादा हुए और अन्य विधाएं बाद में आईं। कश्मीरी की पहली कहानी सोमनाथ जुत्शी की "जब सुबह हुई" 1950 में छपी। साथ ही दीनानाथ नादिम की "जवाबी कार्ड" आई। नादिम ने दो तीन और कहानियां लिखीं और बस। जुत्शी की परवर्ती कहानियों का संकलन अभी 1999 में उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ है। प्रगतिवादी सोच तथा मार्क्सवादी प्रचार के प्रतिश्रुत कहानीकारों में नूरमुहम्मद "रोशन" (प्रभात) अज़ीज़ हारून (चांद) भी थे जो शीघ्र ही रचना जगत से किनारा कर गए। प्रगतिशील विचारों की जकड़ से कहानी को बाहर निकालकर उसे यथार्थ के ऊहापोह के निकट बिठाया, परवर्ती कहानीकारों अख्तर मुहीउद्दीन, अमीन कामिल, सूफी उलाम मुहम्मद, बंसी निर्दोष, शंकर रैना और हरिकृष्ण कौल ने। हम कह सकते हैं कि कश्मीरी कहानी का विकास यथार्थ चित्रण के प्रति बदलते दृष्टिकोण तथा बदलती अभिवृत्ति का है। ज्यों ज्यों कश्मीर के नए जनतंत्र में, भारतीय जनतंत्र की उन्नति–अवनति के प्रति प्रतिक्रिया होती रही, कश्मीरी जन की सोच भी प्रभावित हुई। कश्मीरी कहानी ने उस सोच को प्रतिबिम्बित किया। साथ ही कश्मीरी लेखकों की नई पीढ़ियां भारतीय तथा विश्वसाहित्य में हो रहे नए प्रयोगों के सम्पर्क में आई। कश्मीरी कहानी उन प्रयोगों या परिवर्तनों का सही अनुमान करा सकती है।

कश्मीरी नाटकों के आरंभिक प्रयासों (जैसे 'सत्य की कसौटी', 'किसान का घर') ने नाटक तथा रंगमंच की पारस्परिक निर्भरता की महत्ता प्रदर्शित की थी। रंगमंच को स्वातंत्र्योत्तर काल में, विशेषकर कश्मीर पर पाकिस्तानी कबाइली आक्रमण के संदर्भ में, प्रगतिवादी संस्थाओं जैसे कल्चरल कांग्रेस (कल्चरल फ्रंट/कल्चरल कांफ्रेंस) ने खूब इस्तेमाल किया। इससे यहां मंच की एक स्थानीय, नगराधारित परम्परा चल पड़ी औः कश्मीरी को दीनानाथ "नादिम" (के गीतिनाद्य) तथा अलीमुहम्मद लोन (के रेडियो नाटक) मिले। नादिम के नाटकों में लोक कथाओं, तथा ऐतिहासिक रोमांसों को यों प्रस्तुत किया गया कि उन के प्रतीकार्थों से युद्ध–विरोध, शान्तिप्रियता, समाजवादी यथार्थ ज़ैसे प्रगतिवादी उद्देश्यों की पूर्ति होती हो। जो भी हो, इनसे मंच को काफी बढ़ावा मिला। नादिम के "भ्रमर और नरगिस" "नेकी और बदी", "सफर और छाया' तथा "वितस्ता" गीतमयता, चरित्र–चित्रण तथा भाषा सौन्दर्य के लिए सदा याद किए जाएंगे। सातवें और आठवें दशकों में लिख गए नाटकों में "नाक का सवाल" (अख्तर) "बेला हमारी है" (कामिल) तलाश (अवतार कृष्ण रहबर) तकदीर साज (अली मुहम्मद लोन) "अंतःपुर का दर्पण" (मोतीलाल व्यमू) "नाटक बन्द करो" (हरिकृष्ण कौल) मकड़े का जाला (सज्जूद सैलानी) विशेष लोकप्रिय हुए। इनमें सामयिक समस्याओं को पश्चिमी यथार्थवादी नाट्य परम्परा के प्रकाश में तथा शेष भारतीय परिदृश्य में उभरते हुए

नाट्य–प्रयोगों के प्रभाव के वातावरण में लिखा तथा खेला गया। कश्मीरी नाटक के सन्दर्भ में रेडियो नाटक तथा राज्य की संस्कृति एकेडेमी के नाटक–समारोहों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। लोन, सोमनाथ जुत्शी, पुष्कर भान, निर्दोष, अख्तर, सजूद, हरिकृष्ण, क्यमू आदि के रेडियो नाटकों ने मंच नाटकों के लिए अच्छा वातावरण तैयार किया। लोन–जुत्शी–अख्तर का "वितस्ता बहती रही", भान की "मचामा" हास्य नाटक–श्रृंखला तथा क्यमू के (लोकनाट्य भांड पाऽथर पर आधारित) नाटकों का इस संदर्भ में विशेष महत्व है। इतिहास के प्रसंगों पर आधारित लोन का "सुय्या" तथा क्यमू का "छाया" कश्मीरी नाटकों की स्वतंत्र परिपक्वता के द्योतक हैं। क्यमू कश्मीरी के सर्वाधिक नाटक लेखक तथा इस विधा की तकनीक के प्रति सर्वाधिक चेतन नाटककार के रूप में उभरे हैं। हिंदी में लेखन आरम्भ करके उन्होंने पिछले तीस वर्षों में "मैं, लल, प्रेम करने चली","पालने का पूत","खोया हुआ गांव","तोता और आईना","जब आधार छूट जाएंगे","उदास नगर" जैसे नाटकों से कश्मीरी नाटक को राष्ट्रीय स्तर की ऊंचाइयों तक उठा दिया है।

गद्य की अन्य विधाओं जैसे निबन्ध, उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा, यात्रावर्णन में कश्मीरी साहित्य काफी विपन्न है और कुछ गिने चुने ग्रंथों को छोड़कर इस क्षेत्र में लेखकों की अभिरूचि का खास प्रमाण नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि गद्य के प्रकाशन के लिए, वस्तुतः कुछ भी प्रकाशित करने के लिए कश्मीरी में बहुत कम सुविधाएं उपलब्ध हैं। समाचार पत्र कोई नहीं छपता तथा साहित्यिक पत्रिकाएं भी दो तीन ही हैं जो रूकते–रूकते मुश्किल से निकल रही हैं। करीब एक हजार वर्ष के साहित्यिक इतिहास तथा पांच हजार वर्ष के अक्षुण्ण अभिलिखित राजनीतिक इतिहास के बावजूद कश्मीरी साहित्य, गद्य में उतनी उन्नति क्यों नहीं कर सका है जितनी पद्य में, इस समस्या के प्रति हमारे चिन्तक साहित्यकार भी पर्याप्त गंभीर नहीं। यह चिन्ता का विशेष कारण है।

●

मेरी चित्र–मंडोली जिस ने की कजरारी
मैं शर्मीला, चोर की मैंने देखी छाया
भाग चुका वह, मैं तो मलता रहा आंख
कहां छिपाऊं मुंह, अब मिलता नहीं ठांव
नूर हुआ था प्रज्वलित सो राख हुआ
टोह रहा है भेस बदल कर शेर यहां।

–नुंद ऋषि

काल सिंह है भला कहां इससे भागोगे?
बीच झुंड के चुनकर तुम्हें उठा ले जाए
शरबत है रे मृत्यु, पिए बिन ठीक न होगे
अमर सत्य यह अब तक क्योंकर जान न पाए?

–शेख नूरुद्दीन (नुंद ऋषि)

कश्मीरी की आदि कवयित्री ललेश्वरी

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह कश्मीरी का प्रथम प्रस्फुटन ग्यारहवीं–बारहवीं शती ई॰ में हुआ। इस भाषा के विकास के पहले दो सौ वर्षों के मात्र दो तीन ग्रंथ उपलब्ध हो सके हैं और कुछ नमूने कुछ संस्कृत ग्रंथों में इखरे–बिखरे मिले हैं। उन से कश्मीरी के मूल अपभ्रंशी स्रोतों के स्वरूप का कुछ भान होता है। ''छुम्म सम्प्रदाय'' के पंथ निदर्शक पदों (ग्यारहवीं सदी) में इस अपभ्रंश का प्राचीन रूप है जो बारहवीं सदी में ''महानयप्रकाश'' (शितिकंठ) में थोड़ा परिवर्तित होकर शैव दर्शन की व्याख्या को जन साधारण तक पहुंचाने में सफल रहा होगा। इन दो ग्रंथों की भाषा के अध्ययन से इतना स्पष्ट होता है कि अपभंश तेजी से बदलकर ''सर्वगोचर देश भाषा'' बन रही थी। चौदहवीं शती में ललेश्वरी की कविता में यह भाषा साहित्यिक मान्यता प्राप्त करने लगी। कुछ अन्य भाषिक कारणों से यह परवर्ती परिनिष्ठित कश्मीरी के लिए आदर्श बनी। ललेश्वरी तक आते–आते कश्मीरी का अपभ्रंश से संक्रमण लगभग पूरा हो चुका था और यह एक स्वतंत्र साहित्यिक माध्यम का रूप धारण कर चुकी थी। उसके बाद सैकड़ों वर्षों तक यह भाषा लगातार साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त की जाती रही और आज भी हम ललेश्वरी की भाषा को बहुत हद तक आधुनिक कश्मीरी के समान पाते हैं। इसलिए ललेश्वरी (कश्मीरी) भाषा के विकास की दृष्टि से इस भाषा की आदि कवयित्री हैं। उसका प्रथम कवयित्रि होने का एक और कारण यह भी है कि ललपूर्व उपर्युक्त ग्रंथ साहित्यिक रचनाएं नहीं, भले ही छंदोबद्ध हैं। कश्मीरी के इतिहास में ललेश्वरी पहला साहित्यिक नाम है, बल्कि प्रतिभा, गहन अनुभूति, पर्यवेक्षण, संवेदनशीलता तथा अभिव्यक्ति की संपन्नता के कारण ललेश्वरी अभी तक अप्रतिम बनी हुई है।

ललेश्वरी, ''ललद्यद'' या ''लल्ला आरिफा'' नामों से जानी जाने वाली कवयित्री, का जन्म का नाम ''लल'' रहा होगा। ''लल'' वस्तुतः ''ललिता'' का संक्षिप्त है और आज तक इसी रूप में प्रयुक्त होता है। लल ने स्वयं जगह–जगह पर अपने लिए इस नाम का उल्लेख किया है। लोक परम्परा में जिस प्रकार इस लोकप्रिय संत कवयित्री के दिव्यीकरण की प्रक्रिया

चली, उसने उनके जीवन की घटनाओं के साथ–साथ उनके नाम का भी रहस्यीकरण किया। लल के बारे में विचित्र अटकलें लगाई गईं। यह दुखद संयोग है कि लल के समकालीन इतिहासकारों में से केवल जोनराज (द्वितीय राजतरंगिणीकार) ने उनका परोक्ष उल्लेख किया। उसने नाम लिए बगैर एक आत्मलीन योगिनी का ज़िक किया, जो एक दिन जंगल में शिाकर खेल रहे राजकुमार शहाबुद्दीन (13 वीं शती) के सामने प्रकट हुई और श्रद्धावनत कुमार को राजा बनने का वरदान दिया। बाद के उल्लेखों अथवा आलेखों में इस घटना को लगातार परिवर्तित किया जाता रहा। सत्रहवीं सदी की एक फारसी पाण्डुलिपि "असरार–उल–अबरार" में पहली बार इस योगिनी का नाम ललद्यद (लल्ल मां) कहा गया और लल के पारिवारिक जीवन का, उसके पति का और जंगल में उसके निर्वसन घूमते हुए किसी अन्य धर्मावलम्बी विद्वान या प्रचारक से उसका सामना होने का जिक्र किया गया। फिर उन्नीसवीं शती की पाण्डुलिपियों में इस विद्वान प्रचारक को मध्य एशिया का पीर अली हमदानी बताया गया और लल को इस "मर्द–ए–मोमिन" के प्रभाव में आने से लल को मुसलमान "आरिफा" कहा गया।

प्रचलित मौखिक परम्पराओं के अनुसार ललेश्वरी 14 वीं शती के दूसरे या तीसरे दशक में श्रीनगर से 10 कि०मी० दूर स्यमपुर गांव में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मी। उनका विवाह 3 कि०मी० दूर प्रसिद्ध केसर भूमि पांपुर के कस्बे में हुआ। प्रथानुसार उनका नाम ससुराल में बदलकर पद्मावती रखा गया। वह आरम्भ से ही संवेदन शील तथा चिन्तनशील थी। ससुराल में सास के दुर्व्यवहार और पति के शंकालु स्वभाव ने उनका मन संसार से उचाट कर दिया और वह एकांत में भक्ति साधना तथा योग में खोने लगीं। उनकी ससुराल के उत्पीड़न और पनघट पर मिलने वाली सखियों से यदाकदा अपनी पीड़ा के वर्णन की मार्मिक कथाएं कश्मीरी लोकवार्ता का अभिन्न भाग बनी हुई हैं। अपने समय के एक शैव साधक सिद्ध "मोल" (पिता) से, जो कश्मीर शैवदर्शन के प्रतिपादक वसुगुप्त की शिष्य परम्परा में थे, लल ने इस दर्शन का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त किया। फिर अपनी प्रतिभा और साधना से वह गुरु से भी आगे निकल गई। गृहस्थी को तिलाजंलि दी और जन–निर्जन में अपने अर्जित ज्ञान, अनुभव तथा अनुभूति का विस्तार करती तथा जन–साधारण से उसे साँझा करती हुई बेधड़क घूमती फिरती रही। सूक्ति प्राय तुकांत वचन कहने की प्रवृत्ति पहले से ही प्रचलित थी। लल आगे चलकर अपने आध्यात्मिक अनुभव को लोकग्राह्य भाषा और मुहावरे में अभिव्यक्त करती रहीं। लल की वाणी योगी, साधक तथा जनसाधारण सबके लिए बुद्धि, सांसारिक सूझ, आत्मज्ञान तथा एकांतिक अध्यात्मिक अभ्यास की अभिव्यक्ति का प्रतीक बनी और उसने सूक्तियों का आयाम प्राप्त किया। यह कविता सामान्यतः चतुष्पदियों में थी। यह लल से पूर्व का पारम्परिक परिनिष्ठित छंद था। लल ने चतुष्पदियों को "वाख" (वाक्) कहा। बाद में लल के कनिष्ठ समकालीन मुस्लिम संत कवि शेख नूरुद्दीन ने भी अपनी कविता के लिए इस छंद का प्रयोग किया और इसे "श्रुक" (श्लोक) कहा। लल के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा कवित्व ने न केवल नूरुद्दीन को बल्कि लगभग तमाम परवर्ती कवियों को प्रभावित किया। कई ने (जैसे सूफी कवि शम्स फकीर, भक्ति कवि परमानन्द) अपनी कविता में लल के आध्यात्मिक उत्थान और भक्ति साधना में उनकी उपलब्धि का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया। लल कश्मीर के शैव (त्रिक) दर्शन

से प्रभावित थी और अपनी कविता में उन्होंने अपने विशिष्ट अनुभव का वर्णन लोकप्रिय बिम्ब चित्रण के साथ किया। लोकप्रियता और श्रद्धा के कारण लल के जीवन तथा कविता दोनों के साथ जनकल्पना को खुली छूट मिली। उनका जीवन–वृत्त चमत्कारिक घटनाओं से तथा उनकी कविता नीति–उक्तियों तथा परवर्ती कवियों के पदों से भर दी गई। लल की कविता (कुल मिलाकर डेढ़ दो सौ के करीब 'वाख' प्राप्त हो सके हैं) का अधिकारिक विद्वानों के द्वारा गहन पाठालोचन तथा संशोधन नहीं हुआ है और न ही उनकी भाषा में आए परवर्ती प्रक्षेपों को पूरी तरह से निकाला जा सका है। लल की मूल शैव विचारधारा के साथ परवर्ती इस्लामी विचारों का जो मिश्रण हुआ, उसकी संतोषप्रद पहचान भी नहीं हो सकी है, बल्कि निहित अभिप्राय वाले विद्वानों ने प्रक्षिप्त और मूल के विवेचन के बिना ही लल का साहित्यिक और सामाजिक मूल्यांकन किया है।

लल ने अपने जीवनकाल में हिन्दु धर्म और दर्शन के विकास तथा क्षीण होने की प्रक्रियाएं देखी थी। इस्लाम के पश्चिम एशियाई प्रचारकों के प्रति जन सामान्य के आरम्भिक प्रतिरोध की वह साक्षी थी। इस धर्म के राजाश्रय पाने तथा व्यापक राज्याश्रित प्रचार की ज्यादतियां भी उन्होंने देखी थीं। योगी और वाममार्गी तांत्रिकों के द्वारा चमत्कार करके जनता को प्रभावित करने की घटनाएं भी लल के सामने होती रहीं। समय–समय पर आड़े तिरछे संकेतों में उन्होंने इन घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया भी दी। अपने समय का प्रत्यक्ष साक्ष्य लल की कविता में नहीं मिलता। उनकी कविता के बाहर केवल जबानी परम्पराएं चलती रहीं। कभी–कभी उनकी लाक्षणिक उक्तियों के सीधे अर्थ लेकर उनके जीवन तथा कृतित्व के विवरण तैयार किए गए। उदाहरणतः उनके "निर्वसन नाचने", अन्य धर्मगुरुओं, समुदायों, सास, पति, गुरु के साथ उनके पद्यबद्ध वार्तालाप करने तथा सांसारिक व्यवहार पर उनके आशुपद कहने के बारे में विविध मौखिक और लिखित परम्पराएं आज तक चल रही हैं। जो भी हो, लल की छवि हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए श्रद्धेय स्नेहशील मां की है। अनुमान है कि लल ने सत्तर पचहत्तर वर्ष की आयु पाई होगी। कबीर की तरह उनके पार्थिव शरीर का अग्नि–संस्कार करने या उसे दफन करने के बारे में विवाद का जिक्र भी मिलता है। ललेश्वरी कश्मीर शैवदर्शन की व्याख्याता नहीं, जैसा कि कुछ साहित्यालोचकों ने सिद्ध करने की कोशिश की है। वह इस दर्शन से प्रभावित थीं पर उनका उद्देश्य इसका प्रचार करना नहीं था। उन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभव को लोकप्रिय मुहावरे तथा शब्दावली में व्यक्त किया। कविता उनके लिए बेहतरीन आत्माभिव्यक्ति का साधन थी :–

मेरे गुरु मुझ से बस एक वचन बोले
बाहर से तू सिमट और भीतर हो ले
वही मेरा आदर्श बना, आदेश बना
इसीलिए मैं लगी घूमने निर्वसना।

गुरु का स्थापित किया हुआ आदर्श शिव भक्ति का था, जिसे प्राप्त करने के लिए लल कुछ भी कर सकती थीं सह सकती थीं। पारिवारिक और सामाजिक विरोध को उन्होंने

बड़े मानसिक पराक्रम से सहा तथा अभिव्यक्त किया :—

हँस लें मुझ पर बोल हजारों भले करें
मैं मनवासी मुझ को कोई खेद नहीं
यदि में होऊंगी शंकर—भक्तिन सच्ची
दर्पण को मैला कर सकती राख कभी?

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि लल ने शैव साधना के मार्ग को समझते—समझाते जो कविता की उसमें इस योगिनी के अभ्यासक्रम के विभिन्न चरणों का संकेत मिलता है। इस आधार पर इस कवयित्री को शैवदर्शन की भाष्यकार बताया गया। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। लल ने शैवदर्शन को अपने जीवन में उतारा जरूर था, पर उन का मुहावरा कवि का है और उनका व्यक्तिगत अनुभव रूपक में परिवर्तित होकर अव्यक्तिक हो जाता है। इसे व्याख्यात्मक या उपदेशात्मक समझना उचित नहीं।

शिव है तेरे तन में सूक्ष्म जाल फैला कर
बहुत कला से रमा हुआ घट—घट के भीतर
जीते जी रे नहीं देखेगा तो क्या मर कर?
तनिक विचारो, मन से अहं को कर लो बाहर।

यह शिव की मनुष्य में उपस्थिति की दार्शनिक व्याख्या नहीं बल्कि उपस्थिति की अनुभवगम्यता का चित्र है। लल के लिए शिव की प्राप्ति का उपाय किसी मतवाद से प्रेरित नही था बल्कि जिन्दगी के ढर्रे के निर्वाह के साथ—साथ एक समान्तर चिन्तन तथा क्रिया जगत की रचना से संभव था।

शिव शिव कहो और हंस की गति अपनाओ
जीवनभर व्यवहार यही हो चाहे दिन या रात
दुई किसी से नहीं, न मन से कोई लगन लगाए
उस पर नित्य प्रसन्न हुआ करते हैं सुरगुरु नाथ।

यहां स्पष्ट ही हंस की गति आध्यात्मिक अभ्यास—क्रम का संकेत करती है। मन को दुई से दूर रखना व्यावहारिक सज्जनता है। लल दोनों का संतुलित मिश्रण करके ही शिव की प्राप्ति संभव मानती है। जीवन की निरंतरता उसके लिए सबसे बड़ा सत्य था। यह शैवदर्शन के अभिमत से समर्थित भी था। जीवन को लल ने कभी त्याज्य और अवांछित तथ्य नहीं समझा, यद्यपि मृत्यु और पुनर्जन्म अवश्यंभावी बताए —

हम ही सदा रहे हैं जग में हम ही सदा रहेंगे
चले आ रहे सदा निरन्तर हम ही विगत समय से

जीना मरना नहीं चुकेगा शिव के लिए कभी भी
उदय अस्त ज्यों नहीं रुकेगा रवि के लिए कभी भी।

वस्तुतः ललेश्वरी धर्म–कर्म दर्शन आदि का निश्चित और सोद्देश्य उपयोग करने के पक्ष में थी। इस सब क्रिया का लक्ष्य था ईश्वर सापेक्ष मानव–उत्थान।

तंत्र जभी चुक जाए मंत्र बाकी रहता है।
और मंत्र चुक जाए चित्त ही शेष रहेगा
और चित्त भी रहे नहीं तो कहां क्या रहे
विलय शून्य में होकर केवल शून्य रहेगा।

तंत्र–मंत्र चित्त और शून्य के इस क्रम की व्याख्या टीकाकारों ने अलग–अलग ढंग से की है। तंत्र वस्तुतः आरंभिक आयोजन का प्रारूप (draft) या आरेखन है जो किसी भी उपक्रम में, मन में केन्द्रीकरण के लिए, आवश्यक है। तंत्र को ही साध्य बनाकर चलने वाले तांत्रिक लल की व्यंग्योक्तियों से बच नहीं सके थे। मंत्र आरेख को दिया जाने वाला शब्द है जो उसे 'वस्तु' (content) की संपन्नता और गरिमा प्रदान करता है। लल ने हजारों मंत्रों की अनावश्यकता तथा एक ही प्रभावी मंत्र 'ओम' की महत्ता पर जोर दिया। शब्द की भी एक सीमा होती है और शब्द का विकास चित्त और चिन्तन में ही संभव है। पर अंततः चित्त को भी शून्य में विलीन करना ध्येय है, क्योंकि जीवंत शून्य में सबका विलय सबसे बड़ा सत्य है और इसका स्वीकार ही मानसिक और आध्यात्मिक परिणति का मार्ग दर्शन करा सकता है। अनुभव की एक पूरी दुनिया तथा अनुभूति के एक पूरे क्रम को इस प्रकार संक्षिप्ति के साथ बहुत कम कवि कह सके हैं।

लल ने जब भी आध्यात्मिक अनुभव को शिवभक्ति की पारम्परिक शब्दावली से संयुक्त करके "वाख" कहे, उनका मूल कवि–व्यक्तित्व अभिव्यक्ति में सदा प्रधान रहा। केवल शब्द पारम्परिक थे, शब्द संयोजन, वाक्य रचना उनकी नितांत मौलिक थी, जिससे उनकी रचना में सटीकता तथा बात में भेदन–बल बराबर मौजूद रहा। न केवल सामाजिक रूढ़ियों पर बल्कि धार्मिक आडम्बर पर उनके व्यंग्यों में तीक्ष्णता तथा सदाशयता, उनकी कविता की कोटि उच्च बनाती है। लोक–व्यवहार तथा लोक विश्वास का उन्होंने पूरा सदुपयोग किया। शिव उनकी कविता में एक आदर्श प्रियतम के रूप में मौजूद रहते हैं और लल एक विरही प्रियतमा की तरह उसे पाने को बेकल रहती हैं —

प्रेम पगी मैं "लल" यों घर से निकल पड़ी
उसे ढूंढ़ते मुझे हो गए दिन और रात
देखा "पंडित" तो मेरे ही घर में थे
यही मुहूर्त था शुभ, जो मैंने ग्रहण किया।

प्रिय को दिन रात ढूंढ़ने की ललक लल में एक सुखद रोमांस की सी रही है, क्योंकि यह ललक वह एक निरन्तर यात्रा के रूप में अभिव्यक्त करती है। यह उनकी मानसिक यात्रा है जिसका लक्ष्य सदा उनकी नज़र में रहा है। न वह द्वैत की उपज है न ही द्वैत उसका तार्किक निष्कर्ष है। यह किसी नायिका का अपने बावरे प्रिय के साथ रमण का–सा रससिक्त अनुभव है –

मेरे तलुओं का मांस मार्ग से चिपक गया
मुझे 'एक' से 'एक' दिशा का बोध मिला
(अनुभव मेरा) सुने वही विक्षिप्त बने
सौ बातों की एक बात लल यही माने।

यह मानते हुए या अपनी आस्था की विवेचना करते हुए लल कभी भी मानव मात्र, कमजोरियों, तथा मानव प्रयास के बौनेपन का सत्य आंखों से ओझल नहीं होने देती। ऐसे समय कवयित्री का मन लघुता के प्रति करुणा से भर जाता है और उनकी कविता पारदर्शी बन जाती है –

कच्चे धागे से समुद्र में खींच रही हूं नाव
काश सुनें प्रभु मेरे, मुझको कभी लगा दें पार
मिट्टी के कच्चे सकोरों में पानी पचता है
अपने घर आना चाहूं, है ललच रहा जी मेरा।

मिश्री का बोझा ढोती हूं, गांठ पड़ गई ढ़ीली
देह यष्टि ही हो गई टेढ़ी, अब कैसे ढो सकती
गुरु वचनों से जाग पड़ी वंचित होने की पीड़ा,
बिन चरवाहा रेवड़ भटका, अब कैसे सह सकती।

इस प्रकार लल की कविता तीव्र व्यक्तिगत अनुभव की समर्थ अभिव्यक्ति है जिसका चिंतनात्मक आधार धर्म और दर्शन है पर जो कवयित्री के मानसिक बन्धन तथा मुक्ति की कामना की अभिव्यंजना करती है। इस कविता के सामाजिक सांस्कृतिक राजनीतिक आयाम भी हैं पर हर संदर्भ में इसका काव्यत्व प्रधान रहता है। लल कोई भी मनस्थिति स्पष्ट चित्रों और सघन बिम्बों में संप्रेषित करती है, जिससे पाठक उनके मंतव्य की गहराई तक जा सकता हैं। लल कश्मीरी की आदि कवयित्रि हैं पर उनकी कविता का स्तर देखकर यह मानना गलत नहीं कि वह किसी पूर्ववर्ती काव्य परम्परा की एक उन्नत कड़ी ही हो सकती है। ऐसी किसी परम्परा के अनुपलब्ध तथा असंभव प्राय होने की स्थिति में ललेश्वरी के काव्य तथा व्यक्तित्व का महत्व और बढ़ जाता है।

●

ललेश्वरी : एक प्रामाणिक विरोधी स्वर

प्रतिरोध और विरोध में अन्तर है। विरोध में धीमी पर स्थाई गति होती है जबकि प्रतिरोध क्षणिक या दिखावे के लिए हो सकता है। प्रतिरोध में मतभेद का तत्व मौजूद होता है और मतभेद, दो समान या विरोधी वस्तुओं या स्थितियों के सहअस्तित्व में बाधा नहीं भी बन सकता है। विरोध सह अस्तित्व के विरुद्ध प्रश्नचिन्ह बनकर खड़ा होता है। विरोध में हिंसा की प्रेरणा भी हो सकती है और इसका परिणाम मानसिक या शारीरिक हिंसा के रूप में प्रकट हो सकता है। कवि जब विरोध करता है तो उसके विचार में हिंसा का अंश रहता है, जो उसकी भाषा या उसके द्वारा ग्रहण की गई मुद्रा से ज़ाहिर होता है। व्यंग्य उसका अस्त्र होता है। आधुनिक काल में कुछ पश्चिमी (तथा पूर्वी) साहित्यकारों ने हथियार भी उठाए और तथाकथित 'साम्राज्यवादी' शक्तियों के खिलाफ जूझ गए। उनके साहित्य में विरोध के चिन्तन का प्रत्यक्ष अनुभव दर्ज है। साहित्य में ऐसे विद्रोही स्वर भी मिलते हैं जिनमें प्रचलित साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपने या जनसामान्य के चिन्तन तथा हित के प्रतिकूल पाकर विरोध दर्ज होता है। हिंदी साहित्य में नई–नई प्रवृत्तियों का उदय तो हर युग में होता ही रहा है, पर अकविता (या एंटी पोएट्री) अकहानी, एब्सर्ड नाटक जैसे आन्दोलन सचेष्ट मतभेद से जन्मे और उनमें विरोध का अंश प्रमुख रहा। ऊलजलूल नाटक, नंगी पीढ़ी, और भूखी पीढ़ी के साहित्य की घोषित प्रवृत्तियां, प्रचलित साहित्यिक रूढ़ियों तथा अभिवृत्तियों (एटीट्यूड्स) को तोड़ने के लिए जन्मीं। जीवन के अवमूल्यन की दृष्टि के पनपने का विरोध करने वाले साहित्य ने नग्नता को शस्त्र की तरह इस्तेमाल किया। इस प्रकार की नग्नता का चित्रण अश्लीलता के लिए नहीं बल्कि

प्रचलित सामाजिक और राजनीतिक मूल्हीनता का विरोध करने के लिए किया गया। आर्थर अदामोफ के नाटक "प्रोफेसर तरान" में, जिस प्रोफेसर को समुद्रतट पर नग्नता (वास्तव में नग्नता के विरोध) के प्रदर्शन के अपराध में गिरफ्तार किया गया, वह थाने में फिर खुद को नंगा कर देता है। सार्वजनिक नग्नता से तथाकथित सभ्यता के प्रच्छन्न अवमानवीकरण का विरोध करने के उदाहरण प्राचीन काल से मिलते हैं। ललेश्वरी के "निर्वसन घूमने" की स्वीकारोक्ति के पीछे इस स्त्री की नैतिक वीरता को देखा जाना चाहिए। चिन्तन के आधार पर ललद्यद या ललेश्वरी ने अपने समकालीन समाज और संस्कृति पर बड़ी चोट की है। वह सामाजिक ढांचे को आमूल परिवर्तित होते देखना चाहती है। उसने व्यावहारिक रूप में इस ढांचे को बहुत हद तक तोड़ा भी। साहित्यिक जगत में ऐसे कम उदाहरण मिलते हैं जब कवि ने अपने जीवन को अपने कथन का उदाहरण बनाया हो। डंके की चोट पर वह ऐसा कहती है——

> मेरे गुरु मुझसे, बस एक वचन बोले–
> बाहर से तू सिमट और भीतर होले
> वही मेरा आदर्श बना आदेश बना
> इसीलिए मैं लगी घूमने, निर्वसना।

स्पष्ट है कि 'नंगे घूमने फिरने' की प्रेरणा लल को गुरु के "बाहर से भीतर" की तरफ चलने के उपदेश से मिली। बाहर से भीतर चलना वास्तव में स्वयं को मानसिक चिन्तन तथा आत्मलीनता के संसार में खो देना है। बाहर या दृश्यमान जगत से स्वयं को क्यों समेटा जाए, इस बारे में संसार के विभिन्न धर्म तथा मतवाद विभिन्न दार्शनिक व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं। एक भारतीय विचार परम्परा के अनुसार जो दृश्य है वह वास्तविक नहीं है, असत्य है। इसलिए सम्बन्धों को असत्य मानकर उनसे अलगाव को महत्व दिया गया है। ललेश्वरी योगिनी थीं। गुरु के आदेश से वह भीतर के सत्य की खोज में एक मानसिक यात्रा पर चल पड़ीं। शैव दर्शन और योग का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है और योग की क्रिया में निमग्न लल का शैव मत के साथ क्या समीकरण बैठता है, यह इस समय विचारणीय नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में यह दृष्टव्य है कि "भीतर जाने" के बाद ही अर्थात आत्मलीनता की स्थिति आने के बाद ही लल "निर्वसन" (अर्थात निर्बंध, स्वच्छंद) घूमने फिरने लगी। योग की क्रिया व्यक्तिगत, ऐकांतिक तथा निरपेक्ष होती है और उससे व्यक्ति साधक का उद्गार या विकास अपेक्षित होता है। पर लल भीतर की दुनिया में रहते हुए भी सर्वसाधारण में "धूमने फिरने" लगी। सर्वसाधारण के प्रति उसको जैसे कोई प्रतिबद्धता निभानी हो। या फिर सर्वसाधारण में निर्बंध घूमकर अनुदार सामाजिक बन्धनों का घोषित विरोध करना हो।

उपर्युक्त "वाख" में लल की कविता और जीवन दोनों की आरम्भिक प्रेरणाओं का सबसे बड़ा अंतर्साक्ष्य मौजूद है। उनकी रचना का उन्मेष भी गुरु के वचन से हुआ तथा जीवन के विकास का उन्मेष भी। व्यावहारिक रूप में उन्होंने या तो गुरु के वचन से असहमति प्रकट की (क्योंकि भीतर में न सिमटकर, बाहरी दुनिया में ही बंट गई) या गुरु के "आदेश और

आदर्श'' का वास्तविक अर्थ समझ लिया और सामाजिक रूढ़ियों का खुलकर विरोध किया। गुरु से सहमति तो लल के व्यक्तित्व में नहीं थी क्योंकि गुरु के महत्व और गरिमा उनके काव्य में जगह–जगह प्रतिपादित हुई है। वस्तुतः उनके उपदेश से उसने वह नैतिक समर्थन पाया जो समाज में रहते हुए उसे मिला नहीं था। समाज की रूढ़ियों से असहमति की ही पहली प्रेरणा इस ''वाख'' में अभिलिखित है।

''निर्वसन घूमने'' की कुछ भी व्याख्या की जाए पर इसमें साहित्यिक ''उन्माद'' का अर्थ जरूर निहित है। किसी भी ऐसे साहित्यिक उपक्रम के लिए '' स्वतंत्रता'' की जरूरत होती है जिसमें समाज की पारम्परिक रूढ़ियों को तोड़ना ध्येय हो। जितना बड़ा दबाव होगा उतनी तीव्रता से स्वतंत्रता की अनुभूति होगी। तीव्रता ही उन्माद बन सकती है। लल ने अनुभूति की तीव्रता को ''उन्माद'' की कोटि तक अनुभव किया, यही वह कहना चाहती थीं।

''निर्वसनता'' को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखकर लल के नैतिक बल का अनुमान किया जा सकता है। लल के समय कश्मीरी पण्डितानियां वस्त्राभूषणों से कितनी लदी फंदी रही होंगी यह यों भी समझा जा सकता है कि आज भी हमारी पुरानी महिलाओं का पारम्परिक पहनावा काफी सघन बहुमुखी तथा संकुल होता है। पैर छूता लम्बा सा 'फ्यरन', उसके अन्दर 'लाइनिंग' की तरह, पर अलग पहना जाने वाला उतना ही बड़ा सफेद सूती ''पोछ'' कमर पर बंधी ''लूंग्य'', सिर पर ''तरंगा'', जो ''कलपुश'', ''जूज़'', ''पूच'' से बना तथा दो तीन इंच चौड़ी पट्टियों से बंधा होता है। और इस सब के ऊपर ''व्वडपलव'' यानी सिर ढकने का दुपट्टा। यह सब अनिवार्य अंदरूनी वस्त्रों जैसे कुर्ता, स्वेटर, वास्कट आदि के अलावा। जरा सा ''व्वडपलव'' का पल्लू सरका कि हमने दादी मां को शरम से पानी–पानी होते देखा है कि ''मैं नंगी हो गई, रे।'' सात सौ साल पहले जब बच्चियों की "लाज'' की ''रक्षा'' करने के उद्देश्य से उनका विवाह बचपन में ही कर दिया जाता था, सामाजिक नियंत्रण किस हद तक स्त्रियों के पहनावे पर लागू होता होगा यह समझना कठिन नहीं। ऐसे में ''निर्वसन'' होना तथा गर्व से इस तथ्य को स्वीकार करना कवयित्री ललेश्वरी के नैतिक साहस का प्रतीक है।

यह देखना जरूरी है कि लल की निर्वसनता की अलग–अलग व्याख्याएं करने के बाद तथा उसे उन्माद या विक्षिप्तता से ग्रस्त, चित्रित करने के बावजूद कश्मीर के इतिहास में उसे नीची निगाह से नहीं देखा गया बल्कि उसका काफी सम्मान किया गया। उसे ''द्यद'' (बड़ी मां) ''माऽज'' (मां) 'ईश्वरी' और ''आरिफा'' (महात्मा) कहकर उल्लेखित किया गया। यह बात और है कि समकालीन इतिहासकारों ने उसका उल्लेख नहीं किया। केवल जोनराज ने एक योगिनी का (शायद लल का ही) उल्लेख किया और (शायद) लल के कनिष्ठ समकालीन शेख नूरुद्दीन का जिक्र ''यवनों के गुरु मुल्ला नूरुद्दीन'' कहकर किया। जनमानस ने तो इस स्नेहमयी ''मां'' की कविता को श्रोतृपरम्परा से मौजूद रखा। उन्हें न लल के जीवन में न साहित्य में किसी विरोध का आभास हुआ। कारण यह कि लल ने उनकी दुखती रग पर हाथ रखा था तथा उन्हें रूढ़ियों से मुक्त कराने में अपना योगदान दिया था। उसने जन जनका नैतिक नेतृत्व किया था।

ललेश्वरी के समय पर एक दृष्टि दौड़ाने से भी उसके नैतिक साहस का अनुमान लगाया जा सकता है। वह एक प्रतिबंधित समाज़ रहा होगा। लल से दो सौ साल पहले से लेकर (जिसका वर्णन कल्हण करता है) उसके सौ साल बाद के समय तक (जिसका जिक्र जोनराज और श्रीवर ने किया है) का ज़माना बहुत ही उथल पुथल का ज़माना था। उस समय की राजनीति के लैण्डमार्क थे– 'डुलचू'' की लूटमार, सुँहभट्ट का बड़े रहस्यमय हालात में मुसलमान हो जाना, कुटा रानी का राज तथा अराज परिवारों के बीच घड़ी के पैंडुलम की तरह टकराना तथा विवाहों को अपने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति का अस्त्र बनाना, लदाख के रिंचन का मुसलमान बनकर राजनीतिक लूट में शामिल हो जाना तथा सिंकन्दर का मूर्तिभंजक रूप, जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर हत्याओं तथा धर्मपरिवर्तन के सिलसिले का आरम्भ हुआ और एक व्यापक सामाजिक तथा राजनैतिक अस्थिरता कश्मीर की राजनीति का अंग बन गई। यह भावी इतिहासकार ही बता सकेंगे कि बलात धर्म परिवर्तन से आखिर इस्लाम का कितना भला हुआ, पर यह सत्य है कि इस्लाम की "ऋषि–विचारधारा" से इस धर्म के कोमल और मानववादी पक्ष की प्रगति हुई। तेरहवीं चौदहवीं सदी में कश्मीर में बौद्ध धर्म के अनुयायियों की अच्छी संख्या रही होगी, यद्यपि यह धर्म यहां अपनी आंच खो चुका था। उस समय यहां हिन्दुधर्म बौद्धधर्म तथा इस्लाम के बीच सामाजिक और दार्शनिक स्तर पर भी एक विवाद चल रहा होगा। राजनीतिक बल के बावजूद इस विवाद में डरी दबी जनता को सांत्वना के स्वर सुनाई देते होंगे। डर तथा ऊहापोह से ग्रस्त मध्यमवर्गी हिन्दू समाज के बीच लल का उत्पन्न होना एक प्रकार का प्राकृतिक प्रतिरक्षात्मक चमत्कार था। अपनी अस्तित्व–रक्षा के लिए इस समाज ने अपनी प्रतिभा का सर्वोत्तम नमूना पेश किया– लल के रूप में। यह स्त्री सामाजिक प्रतिभूति (गारंटी) का बेहतरीनं प्रतिनिधि थी अतः इसने सामाजिक सीमाओं की परवा नहीं की। संकट के समय भारतीय समाज पहले से ज्यादा बन्धनों में स्त्रीवर्ग को बांधता है और सुरक्षा के लिए अपनी खाल के भीतर सिमट जाता है। इस हालत में लल का विरोधी स्वर बेचैन कर देने वाला रहा होगा। लल योगिनी थी, वामाचारी नहीं जो उस समय पूरे भारत में फैले थे। पर स्त्री का योगी होना भी (जबकि उससे पर्दे में रहने की उम्मीद की जा रही हो) समाज को सहन नहीं हो सकता था। खुद लल ने इस बात की ओर संकेत किया–

मुझे गालियां दें कितने भी बोल कसें
मुझे सुनाए जिसका जो भी जी चाहे
या वे कुसुमों से मेरी कर लें पूजा
अम्लाना मैं सदा रहूंगी, उनका क्या?

हॅस लें मुझ पर बोल हज़ारों भले कसें
मैं मन–वासी मुझको कोई दुख नहीं
यदि मैं होऊंगी शंकर भक्तिन् सच्ची
दर्पण को मैला कर सकती राख कभी?

गाली और गलौज की शीश झुका स्वीकार

भूत भविष्यत दब गया बस निन्दा के भार
लल हूं मैं, कम नहीं हुआ, उत्साह मेरा
पूर्ण हो गई यों अब कहां समाए क्या?

मुझ में उत्साह और उत्सुकता की कमी नहीं हुई, यह कहकर वह साहस का सबूत देती है। मैं अमला हूं यह कहकर अपने उपक्रम की पवित्रता जतलाती हैं। उसमें ढोंग नहीं, मन की स्वच्छता है। इसीलिए तो वह ''छाती पर ताला लगा के'' घूम फिर सकी। ''छाती पर ताला लगाने'' का मुहावरा लल से ही कश्मीरी भाषा में चला और साहित्य तथा लोक–वार्ता दोनों में प्रचलित हो गया। पर समाज को कुछ और भी प्रत्याशाएं हो सकती हैं।

शील, मान की रक्षा करना छलनी में ज्यों पानी
बस में करले पहलवान कैसे मुट्ठी में आंधी
सिर के एक बाल से हाथी को जो सकता बांध
जीवन के पथ पर होगा बस वही सफल निर्बाध।

सच्चरित्र तथा मान–मर्यादा की रक्षा करने के बावजूद जब कवयित्री ने बदनामी मिलते देखी तो उसका ह्रदय कांप उठा होगा।

जोखिम मोल लेने की प्रवृत्ति ललेश्वरी में पहले से ही विद्यमान थी। उसकी जीवनी में बचपन से ही चमत्कार करने की शक्तियों का जिक्र मिलता है। चमत्कार के संकेतों की उपेक्षा भी करें, तब भी यह बहुत संभव लगता है कि सच्चाई के लिए लल में अदम्य साहस रहा होगा। एक दिन उसकी ससुराल में कोई उत्सव मन रहा था, दावत हो रही थी, मांस पक रहा था। पनघट पर पानी भरती सखियों ने जब उसे कहा कि आज तो तेरे मज़े हैं तो उत्तर में उसने कहा–कि लल की किस्मत में केवल वही ''नीला–बट्टा'' है, जो भात परोसते समय सास उसके चावलों में छिपा के रखती कि थाली भरी–भरी दिखे। लल यद्यपि रोज थाली के साथ ही उस बट्टे को भी धो के रख देती और सास के मुंह न लगती, पर उस दिन घर से बाहर भी उसने यह बात कह ही डाली। इसी तरह किंवदंती है कि उसने चरखे पर सूत का महीन धागा काता, पर सास ने मोटा कहकर उसे रद्द कर दिया तथा फेंक दिया। सास के सामने ही लल ने धागे को संबोधित किया कि तू व्यर्थ न जाना, किसी के काम आना। लोगों में बात फैल गई कि वह धागा बारीक बाल के रूप में घाटी की झीलों में उगने वाले नदरू (भें, कमलनाल या कमल गट्टा) में आज तक मौजूद है। इस प्रकार की निजंधरी कथाओं की भरमार है जो लल से सम्बद्ध हैं। इस के अलावा उन प्रश्नोत्तरों का सिलसिला है जो लल तथा उसके समकालीनों के बीच हुआ माना जाता है। इनमें खुले आम लल के साहसपूर्ण उत्तरों का जिक्र मिलता है। इस प्रकार की प्रश्नोत्तरी लल के श्रद्धालु कवियों ने पद्यबद्ध रूप से बनाके रखी। इतना स्पष्ट है कि लल भीड़भीरु नहीं थी। सब से ज्यादा पति से सामना हुआ होगा और लल निडर होकर उस के सामने आ खड़ी हुई होगी। जन–सामान्य में इस बारे में फिर अतिशयोक्तिपूर्ण कथाएं चल पड़ी होंगी।

आध्यात्मिक अनुभव को अभिव्यक्त करते हुए ललेश्वरी ने झूठे प्रदर्शन और आडम्बर का विरोध किया। इसलिए उसकी कविता तथा चिन्तन के कितने भी आयाम हों, उसका कितना भी दार्शनिक महत्व हो, समाज में उसकी क्रिया–प्रतिक्रिया होना अवश्यंभावी था। शायद यह भी कारण रहा हो, समकालीन विद्वानों द्वारा लल को स्वीकृति या मान्यता नहीं देने का। तुलसी दास ने जब संस्कृत के स्थान पर 'भाषा' में लिखना श्रेयस्कर समझा तो विद्वानों को उनका यह उद्यम नागवार गुज़रा। पर तुलसी की मुद्रा सब को साथ ले चलने की थी, समन्वय की थी। लल की मुद्रा आक्रमणकारी है, विशेषकर उसके व्यंग्यपरक वाखों की मुद्रा। पंण्डित को उन्होंने "बटा" (भट्ट रे) "हूटुँ बटा !" (मूर्ख भट्ट रे) कहकर पुकारा। उस की गली सड़ी रीत–रस्मों से पर्दा हटा दिया। तंत्र तथा त्रिक दर्शन के भारी संकुल सिद्धान्त लल ने जन साधारण की भाषा में पेश किए। संस्कृत के तत्सम के स्थान पर यथासंभव तद्भव का या प्रचलित कश्मीरी उच्चारण में तत्सम का रूप प्रस्तुत किया। यही बुद्ध ने पालि के प्रयोग के समय किया, यही लल ने किया। कुछ उदाहरण ये हैं –

संस्कृत	**लल "वाख" में प्रयुक्त**
नाटकीय	नाऽट्य
शंका	शेंख
चर्म	चरमन
सूक्ष्म	सिखिम
चेतन	चीतन
मल्ल	मऽल्य्
उत्तम	व्वतम
भानु	बान
नक्षत्र	ने'शतुॅर
उदय	वुदी
चरित्र	चऱ्यथ
	आदि आदि।

तत्सम ध्वनियों के कश्मीरी तद्भव रूप के प्रयोग की प्रथम और बड़ी साहित्यिक साक्षी लल के साहित्य में ही मिलती है। लल ने तत्सम शब्दों के प्रचलित रूपस्वनिमीय परिवर्तनों को स्वीकृति दी, बल्कि उन्हें कश्मीरी व्याकरण के नियमों के अनुरूप ढाला। अब्याऽस्य् (अभ्यास से) नाराऽन्य् (नारायण ने / को) प्राऽज (पाली) शेमि (शमित होगा)

अम्लाऽन्य (अम्लाना (स्त्री०)) पऽशिथ (देखकर) त्रप्ती (तृप्त होगा) अर्चुन (तुम अर्चना करो, उसकी) बऽज़िम (भजन किया, मैंने उसका) कुटिथ (कूटकर) यह ऐतिहासिक क्रम में कश्मीरी भाषा के विकास के उस चरण की याद दिलाता है जब वह संस्कृत से छूट कर स्वतंत्र कश्मीरी व्याकरण के अनुरूप ढल रही थी। फिर भी हम यह भुला नहीं सकते कि भाषा विद्वानों को तत्सम को तोड़–मरोड़ कर प्रयोग करना सह्य नहीं रहा होगा।

कबीर की ही तरह ललेश्वरी में सामाजिक व्यंग्य की बौछार मिलती है। उपर्युक्त सन्दर्भ में पंडित को मूर्ख इसलिए कहा गया क्योंकि वह मामूली बहानों से समाजका विरोध करता था। पर 'भट्ट' कई सामाजिक और व्यावहारिक विरोधों का भी शिकार था। मसलन पशुबलि –

लाज तेरी ढक लेता शीत मिटाता पशु
आहार करे केवल थोड़े जल का तृण का
भट्ट! तुझे किसने ऐसा उपदेश दिया–
आहार कराओ जड़पत्थर को चेतन का?

मूर्तिपूजा–

तेरे पूजा–पीठ पर जो शिला विराजे
वही शिला मौजूद रहे हर थल पर और हर देश
शोभित होती वही शिला है चक्की के भी रूप
शिव है कठिन समझना, मानो, यही समझ उपदेश।

फिर लल जानती थी कि दुनिया में दंभी चतुरों का राज चलता है, सच्चे तथा योग्य व्यक्ति के लिए यहाँ स्थान नहीं–

मैंने देखा बुद्धिमान प्राणी भूखों मरते हैं
जैसे हवा पौष की चलती तो पत्ते झरते हैं।
डांटे बावरची को (देखा) बुद्धिहीन (धन वाला)
दुखी तभी मैं लल इस बंधन से चाहूं छुटकारा।

इस संसार का कोई तर्क नहीं। बल्कि तर्कहीनता का ही बोलबाला है। केवल एक सत्य है परिवर्तन, अस्थिरता। तेज़ अवनतिशील समाज को देखते हुए उसके स्वर में कटुता आती थी। कबीर के साथ लल का पूरा समीकरण नहीं बैठता क्योंकि कबीर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को उनके दोषों के कारण डांटते थे। ललेश्वरी के समय, इस्लाम कश्मीर में एक नया पंथ था और उसे इस धर्म के अवलम्बियों के वचन तथा कर्म में विरोध देखने का पर्याप्त समय नहीं मिला। उसका निम्नलिखित वाख यदि इस बारे में कुछ संकेत दे सके तो

बात अस्पष्ट नहीं रह जाती तथा ललेश्वरी अपने समय के प्रति असंवेदनशीलता की दोषी नहीं रह जातीं –

मन रे, 'पर' की किस मस्ती ने, तुझको यों भरमाया है
क्यों कर समझो झूठे को सच्चा होकर दिग्भ्रांत रे?
वश में किया मंद बुद्धि ने तुझे, पराए धर्म की
आवागमन मरण–जीवन ने तुझे किया आक्रान्त रे !

●

मन का तुरग न भागे इसकी बाग संभालो
बसमें करो, उड़ा जा रहा प्राण–पवन
शशि की कला बहेगी सिर से पिघल पिघल
शिव और शून्य एक होंगे, हो जाए मिलन।
–नुंद ऋषि
(1378-1438)

तू है और, अलग मैं तुमसे,
ऐसा कभी न मानो रे
यह सब तेरा सिर्फ भरम है जानो रे !
बीच समंदर, भंवन में स्वंय वास करे
नींद वहां ना, रात विषम है, जानो रे !
–स्वछ काल

धारा के अंदर ही तो दरिया है बसता
नाव पानी में, पानी नौका में है रहता
नुक्ता लगता ऐन पर तो ग़ैन बन जाता
ऐन बने ज्ञानी बखानने ज्ञान लगे
था मंसूर मरा बात जब यह था कहता।
–स्वछ काल
(1774-1854)

मन को पिलाओ जल, आकाश–समंदर से
मन से बुलवाओ रे पूरन मैं हूं वो।
कान धरो, इन बातों का रे अर्थ करो
धारण करो धारणा में रे सोऽहम सो।
–शाह गफूर
(18-19वीं शती)

भड़क उठी चंदन से, चंदन–काठ से
प्रेम अगन ने मुझे हाय री जला दिया !
मुंझ बाला को शनैः हिमानी सा घाला
पानी पानी करके नदियों में ढाला
बहा दिया फिर रंब्यारे के झाग में
प्रेम अगन ने मुझे हाय री जला दिया !
–रहमान डार
(रंब्यारा = दक्षिन कश्मीर की एक पहाड़ी नदी)

मुझे इश्क के इरफान ने भरमाया रे
उसके मेरे बीच क्या यही प्रण था रे ?
किस पर आशिक वो, मैं उपसर बलि जाऊँ
बातों में रम गया यार किस सौतन की ?
–रहमान डार
(-1875)

ललद्यद या लल्ल द्यद ?

ललेश्वरी या लल्लेश्वरी ?

मल व्वंदि गोलुम
जिगर मोरुम
तेंलि "लल" नाव द्राम
येंलि दऽल्य् त्रऽव्य्मस तऽत्य्।

ललेश्वरी के इस प्रसिद्ध वाक के दो अर्थ लिए जा सकते हैं एक यह कि "मेरा नाम "लल" तभी से चल पड़ा, जब मैंने हृदय से मलिनता मिटा दी, अपने जिगर को वश में किया और अपने प्रभु के सामने (भिक्षा में) अपना आंचल फैला दिया।" अर्थात् यह सब होने से पहले मेरा नाम "लल" नहीं था। यह नाम मैंने शम और दम से अर्जित किया। यह नाम मेरा जन्म से, मां बाप द्वारा दिया हुआ नहीं। यह नाम, साधना में मेरी खास पहुंच के बाद ही, या किसी विशेष घटना के बाद ही मुझे प्राप्त हो सका। वह घटना भक्ति या भोग या साधना के किसी विशेष चरण पर पहुंचने का प्रतीक है और उस साधना में मन को वश में करना तथा अपने आराध्य के सामने खुद को समर्पित करना जरूरी था, जो मैंने किया, तब कहीं जाकर "लल" नाम से प्रसिद्ध हुई।

ललेश्वरी के जीवन के बारे में जो जबानी या लिखित परम्पराएं हमतक पहुंची हैं उन में एक विशेष घटना को बड़ी अहमियत दी जाती है और उस घटना से लल के "कायाकल्प" को जोड़ा जाता है। " कायाकल्प" अर्थात् साधना की "सच्ची" राह को प्राप्त करके उस पर चलने से उद्देश्य की प्राप्ति, यानी "सच्ची" सिद्धि। वह घटना क्या है ?

घटना यों बताई जाती है। एक बार वह (जाने उसका माता पिता का दिया हुआ नाम क्या था) नंग धड़ंग घूमती हुई बाजार में प्रसिद्ध मुस्लिम प्रचारक शाह हमदान (जिसने हिन्दुओं को मुसलमान बनवाया) के सामने पड़ी, तो पहली बार किसी "मर्द" (अर्थात् मर्द–ए–मोमिन) को देखकर शर्मा गई। लाज की रक्षा करने पहले एक पंसारी 'बनिये' की दुकान में घुसी तो उसने "पगली" को निकाल बाहर कर दिया। फिर नानवाई की दुकान में शरण पाने गई। उसने भी स्वागत नही किया तो उसके जलते तन्दूर में कूद पड़ी। बाहर निकली तो स्वर्णमण्डित वस्त्र पहनकर। और इस प्रकार हमदान के कारण वह पगली एक आरिफा (रहस्यमयी सिद्धा) बन गई। फिर तो वह कदम–कदम पर इस्लाम के "नूर" से "मुनव्वर" होकर "इरफान" के गीत गाती रहीं। मगर इस घटना से पूर्व उसके नग्न पेट का मांस लोथड़े (लल) में लटक गया तथा उसकी लाज को ढक दिया। इस प्रकार वह "लल" नाम से प्रसिद्ध हुई। लल (लोथड़े) का लटक जाना उसके लिए वरदान सिद्ध हुआ। आदि–आदि।

यह दुर्भाग्य समझिए कि लल से संबंधित यह "घटना" आज तक प्रचलित है और कुछ कहावतें इस घटना से जुड़कर इसको और दृढ़ बना गई हैं। जैसे "आयेयि वाऽनिस गयि काँदरस।" अर्थात संपदा बनकर (लल) बनिये के पास आई थी (पर उसकी बदकिस्मती से) फिर नानवाई के पास चली गई। यह कहावत, स्पष्ट ही, अर्थहीन है और वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। कोई भी देख सकता है कि वोन्य् (बनिया) किसी भी दृष्टि से कांदुर (नानवाई) से कमतर नहीं होता, उस पर देवी लक्ष्मी की कृपादृष्टि वस्तुतः उसकी अपनी समझ और वणिक् बुद्धि पर निर्भर होती है।

इस घटना को पहली बार एक हिंदु इतिहासकार बीरबल काचरू ने सन् 1835-36 ई० में अपने ग्रंथ "मजमुआ–अल–तवारीख" में दर्ज किया। जाने उन्होंने यह कहां से ली। इसका स्रोत उन्होंने नहीं बताया है। उससे पहले इतिहास की कुछ पाण्डुलिपियों में लल को एक ऐसी ध्यानी चमत्कारी स्त्री बताया गया था जो जगह–जगह भटकती थी। इस बात का संकेत सब से पहले जो़नराज में मिलता है। अपनी "राजतंरंगिनी" में उन्होंने केवल इतना लिखा कि एक दिन सुलतान अलाउद्दीन के बेटे शहाब–उद्दीन को शिकार के दौरान तीन योगिनियां (या वनचरियां) मिलीं, जिन की मुखिया योगिनी ने उसे एक मदिराचषक दिया आदि–आदि। (बाद के (फारसी) इतिहासकारों ने "मदिरा" के स्थान पर "शरबत" की कथा जोड़ दी।) "लल" का नाम न जोन राज ने ही लिया था और न बाद के कई फारसी इतिहासकारों ने। आगे चलकर सन् 1654 ई० के "असरार–उल–अबरार" नामक मसौदे में बाबा दाऊद मुशकाती ने पहली बार उपर्युक्त ध्यान–योगिनी को "लल्ला आरिफा" कहा। इसी में पहली बार यह बताया गया कि "लल्ला" नग्न घूमा करती थीं। पर इतिहासकार (मुश्काती) ने न शाह हमदान का नाम लिया और न कोई संकेत ही किया। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लल के नग्न भटकने, योगिनियों के साथ जंगलों–वीरानों में घूमने, शाहाबुद्दीन का सामना होने तथा शाह हमदान के साथ ऐसी मुलाकात होने, जिस से लल इस्लामी रंग में रंग गई, आदि घटनाएं समय–समय पर उनकी जीवनकथा में जोड़ी जाती रहीं। असली जीवन कथा के अभाव में लोकमानस में (मुस्लिम अधिसंख्य के मन में) लल को इस्लाम में दीक्षित करके

''प्रकाशस्थान'' पहुंचने की दंत कथा ज्यादा विश्वसनीय बन गई। दुर्भाग्य यह कि इन दंतकथाओं और मिथकों का आरम्भ एक हिन्दु के ग्रंथ से हुआ और आज तक कुछ लोग इनको सच मानते रहे हैं। कुछ मुसलमानों के लिए यह कथा सोद्देश्य है क्योंकि इससे यह साबित होता है कि यह भटकी हुई हिन्दुआनी ''इसलाम के नूर से प्रकाशित'' होकर ही ''आरिफा'' बन गई। कुछ हिन्दुओं ने आंख मूंद कर इसे मान लिया। लल को ''लल्ला'' और ललेश्वरी को ''लल्लेश्वरी'' लिखने का कारण यही है। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने की जरूरत है।

पं० आनन्द कौल ललेश्वरी से सम्बद्ध निबन्धों में जो Indian Antiquary Calcutta में समय–समय पर छपते रहे, लल का ससुराल का नाम ''पद्मावती'' बताते हैं। विद्वानों का कहना है कि यह नाम पद्मपुर (पांपुर) से मिलता जुलता होने के कारण ठीक हो सकता है। पर है यह भी केवल अनुमान। वास्तव में इतिहासकारों के सामने यह समस्या रही है कि " लल" का अर्थ "मांस का लटकता हुआ लोथ" ही किसी तरह सिद्ध हो जाए। यह उनका मां बाप का दिया नाम हो सकता है, यह बात हज़म करने को वे तैयार नहीं हैं। लोथ की बात एक तरह से लल के ''नंगा नाचने'' के साथ भी ठीक बैठती है, क्योंकि इस से उनकी लाज बचाने का एक प्राकृतिक उपाय निकल आता है।

आश्चर्य की बात है यह है कि ''नंगा नाचने'' का शब्दार्थ लिया गया–''निर्वस्त्र भटकना''। इस तर्क से हमें इस वाक् का (सुय मे ''ललि" गव वाख तुँ वचुन/तवय ह्योंतुम नंगय नचुन) अर्थ यह करना होगा कि लल ने जब से अपने गुरु से दीक्षा ली और गुरु ने उसे "बाहर" से "भीतर" प्रवेश करने की सलाह दी, तो उसने ''कपड़े उतार दिए'', आखिर ''भीतर'' तो कपड़ों की जरूरत होती नहीं। यह अर्थ करके लल के कथन की सारी गहराई, सारी गंभीरता, कविता की सारी कला, भाषा के आलंकारिक प्रयोग की लल की सारी क्षमता को एक ही बार भुला दिया गया। बल्कि एक सम्मानित पण्डित साहिब ने ''नंगय'' शब्द को किसी ''नोंगुय'' नामक काल्पनिक फूल से जोड़ दिया जो उनके ''अनुभव'' और ''देखे हुए'' के अनुसार ''नाचता है''। अर्थात् लल कहती हैं कि ''तभी, उसी दिन से, मैंने ''नोंग'' फूल की तरह नाचना शुरू किया।'' यानी कि किसी और ''नाचने वाली'' वस्तु जैसे पक्षी, हवा, जल का उदाहरण न देकर लल ने उस अनदेखे और अनसुने फूल से अपनी तुलना की। लल ने कल्पना के कुलाबे नहीं मिलाए थे, इन ''आलोचक'' महोदय ने जरूर मिलाए। गर्ज़ यह कि ''नंगय नचुन'' वाला वाक् हमारे लिए समस्या ही रहा क्योंकि हमारी अकल में इसका सांकेतिक अर्थ नहीं आया। शायद हमारे इसी असमंजस का परिणाम यह निकला कि लल के नाम को ही समस्या बनाया गया और लल के बचपन पर ही संदेह की छाया पड़ गई।

आखिर ''लल'' में इतनी क्या आसाधारणता है कि यह कश्मीरी पण्डित लड़की का नाम नहीं हो सकता? क्या आज तक हमारी बहू बेटियों का नाम ''ललिता'' रखने की परम्परा नहीं है? क्या ललिता को संक्षेप में आज तक ''लल'' नहीं कहते? क्या ललिता को आदर से आज भी ''लल जी'' कहके और प्यार से ''ललय!'' कहके नहीं पुकारा जाता? फिर यह क्यों भुलाया जाता है कि लल के विवाहित जीवन से जुड़ी यह कहावत आज तक प्रचलित है–

''होंड माऽरितन किनुॅ कठ, ललि निलुॅवठ चलि नु ज़ांह''[1] यह तब की बात है जब वे ससुराल छोड़कर ''नंग धडंग'' भटकने नहीं निकली थीं, जब उनका तथाकथित सामना 'शाह हमदान' से नहीं हुआ था कि उनके पेट से लोथ (लल) लटक जाता।

हिन्दी में ''लल्लद्यद'' या ''लल्लेश्वरी'' लिखे जाने का कारण भी यह है कि फारसी में ''लला'' न लिखकर ''लल्ला'' लिखा गया। फारसी वाले इस नाम का मूलस्त्रोत ढूंढते–ढूंढ़ते आखिर शाहहमदान के इस्लामी प्रचार से इसको जोड़ने में सफल ही हुए, वरना इतिहास के तमाम आरंभिक मसौदों का अध्ययन करने से इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि लल और हमदान कहीं मिले होंगे। यह बात 19 वीं सदी में चल पड़ी ओर आजतक चल रही है। फिर इसमें और बातें भी जुड़ती गईं। यहां तक कि बिजबिहाड़ा (श्रीनगर से 35 कि०मी० दूर) में ललद्यद की एक कब्र भी तय की गई, क्योंकि उनके अनुसार वह जन्मी भले ही ''नार'' में, अंत में उसे ''नूर'' में शरण मिल गई। लल का यह वाक् भुला दिया गया :––

हा च्यता कवुॅ छुय लोंगमुत परमस
कवुॅ गौंय अपज़िस पज़्युक ब्रोंत
दुॅशि बोंज़ वश कोंरनख परदरमस
यिनुॅ गछ़नुॅ ज्यनुॅ मरनस क्रोंत।

इस वाक में मन से (और मानुस से) कवयित्री कहती है कि परधर्म के बस में क्यों हुई जा रही है तेरी मंद बुद्धि(दुॅशि ब्वद)? झूठ को देखकर सच का भ्रम क्यों हो रहा है तुझे? पराई मदिरा का चस्का क्यों पड़ने लगा है तुझे? धर्म को पराई मदिरा कहकर लल ने इस्लाम की आंधी में ढह रहे हिंदुओं को जगाना और चेताना नहीं चाहा है? इस प्रकार के वाकों में अर्थ की कोई दुविधा नहीं। इससे साफ लगता है कि लल ''परायों'' को उनके आचरण तथा आस्था के कारण परख चुकी थी। यदि वह ''मर्द'' के सामने झुकी होती तो उसके मन में तथाकथित मर्द के प्रति तथा उसके नए धर्म के प्रति आदरभाव होता। हमें लल की भाषा, और उस समय की कश्मीरी भाषा के रूप, उस समय की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति को समझना चाहिए, तब कहीं जाकर हम अपनी 'ललमाता' के प्रति सही सम्मान प्रकट कर सकेंगे।

अब हम कह सकते हैं कि ''ते'लि'' ''लल'' नाव द्राम'' का सही अर्थ केवल यह है– तभी तो मेरा नाम फैला, मैंने सफलता प्राप्त की, मैं प्रसिद्ध हुई। इस वाक में ''लल'' शब्द केवल इसलिए है कि पंक्ति पूरी हो और उस परम्परा का पालन हो, जिसके अनुसार कवि अपनी कविता की किसी पंक्ति में अपना नाम बिठा देते हैं कि यह पंक्ति पढ़ते हुए लोग इसके रचयिता का नाम भूल न जाएं।

●

---

1 अर्थात भेडू काटें या भेड़ा, लल के भाग में वही पत्थर है (जो उसकी थाली में चावलों के नीचे रखा जाता है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कश्मीरी कवयित्री की व्यथा-कथा

इसमें संदेह नहीं कि कश्मीर ही में नहीं, समस्त संसार में, पिछले एक दो वर्षों में मानवाधिकार की चेतना का विकास हुआ है। इस दौरान यह देश, देशी तथा विदेशी आधिपत्य के संघर्ष से गुजरता हुआ कभी छूटे हुए अतीत के सपनों में जिया तो कभी वर्तमान के नए यथार्थ से समझौता करता रहा। कभी इसका मनोबल आत्म हत्या के तल तक गिरा तो कभी यह क्षीण प्रतिरोध के केन्द्रों के इर्द गिर्द खुद को समेटता रहा। जब शासन निरंकुश था तो मानव नियति की तथाकथित विडम्बना का रोना विनय, आत्मग्लानि, क्षुद्रानुभूति के आवरणों के बीच से फूट पड़ा व्यक्तिगत पीड़ा को किसी विशालतर दार्शनिक प्रवाह में बहा दिया गया। दोनों स्थितियों में हम देख सकते हैं कि मुद्दा था मनुष्य मात्र की आकांक्षाओं की फलहीनता का या यथेष्ट सफलता न पाने के दर्द का । बात अधिक से अधिक मनुष्य मात्र की गई– इसे अधिकार–चेतना की परोक्ष अभिव्यक्ति भी कहें तो भी यह मनुष्य मात्र की चेतना थी। इस सामान्य स्थिति में स्त्रियों की गति विशिष्ट हो सकती है– इस तथ्य पर नहीं के बराबर मत दिया गया। इसकी प्रमुख वजह यह थी कि इस तथ्य की चेतना ही नहीं थी कि मनुष्य मात्र होने के बाद भी स्त्री की एक अलग, पुरुषों से स्वतंत्र सत्ता हो सकती है। पुरुषों में यह चेतना इसलिए नहीं थी क्योंकि स्त्री उनके लिए "अंगीभूत" थी। खुद स्त्रियों में इसलिए नहीं थी, क्योंकि जीवन पर्यन्त अनुषंगी होने की उनके संस्कारों में बिठाई गई परिकल्पना ने उन्हें जड़ कर दिया था। पुरुषों के चिन्तन में एक आधारभूत दंभ मौजूद रहा। मनुष्य मात्र की साधारणीकृत नदी में अलग किस्म का एक द्वीप हो सकता है, जिसकी शारीरिक और मानसिक संरचना उसके अलगाव के तंतु बुनती है–यह बहुत हद तक पुरुष के लिए अकल्पनीय था। पुरुष ने उसे एक आकार ज़रूर दिया था, पर इस उदारदान की अपनी शर्तें थीं–शर्तें, जो पुरुष–अहं की पूरक और व्यक्तित्व–निर्माण में सहायक होतीं। आज मानव इतिहास की इन स्थितियों को देखने की जरूरत है। स्त्री तथाकथित सामान्य मानवनियति के अपने हिस्से की भोक्ता हैं ही, पर इसके अलावा वह एक और अवमानव नियति की भी भोक्ता रही है। तथाकथित 'गारंटीड भविष्य' वाले समाज में उसकी निश्चिंता का स्रोत उसका अभिभावक पुरुष होता है,

जिसने अगर स्त्री के साहस की अभिव्यक्ति को सहन किया तो केवल तब, जब उसे दार्शनिक अमूर्तन के ब्याज से प्रकट किया जा सकता हो। मध्ययुग में भारतीय दर्शन लौकिक संस्करणों में भी उपलब्ध हुआ, जब कविता लोक मानस में सीधे उतरी और आम आदमी के सरोकारों का भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष अंकन हुआ। "उमा–शंकर" "राधा कृष्ण" और "सीताराम" जैसी अवधारणाओं में दार्शनिक आग्रह के अतिरिक्त ठेठ समाजोचित सार्थकता देखी जाने लगी। यह ठीक है कि शंकर कृष्ण और राम का चरित क्रमशः उमा, राधा तथा सीता के बिना अधूरा कहा गया, पर यह भी सत्य है कि स्त्री के प्रथम उल्लेख से अमली तौर पर पुरुष देवता का श्रृंगारीकरण ही होता रहा। खुद स्त्री चरित्र का मूल्यवर्द्धन नहीं हुआ। प्रमाण : इन दम्पतियों के चरित आखिरकार पुरुषप्रधान चरित ही हैं। यह हम मान सकते हैं कि व्यक्तित्व–निर्माण में स्वतंत्रता और निरपेक्षता की, आंशिक ही सही, जरूरत होती है। मध्ययुग के चरित साहित्य में वह निरपेक्षता नहीं। लोकपरम्परा में स्त्री की इस श्रृंगारी भूमिका का भी अवमूल्यन हो गया। लोक साहित्य का एक बड़ा भाग स्त्री के विरहगीतों का है। भले ही इन्हें स्त्रियाँ सरजती और सुरक्षित रखती गईं पर स्वयं स्त्री–मानस ने इनका विषयगत मूल्यांकन नहीं किया। यह कैसी विडम्बना है कि पुरुष तो पुरुष, खुद स्त्रियां भी, अंसुआते विरह गीतों में कलपती स्त्रियों का मज़ा लेती रहीं। पुरुष यह मजा चटकारे ले लेकर लेता रहा। षट्ऋतुवर्णन जैसी काव्य शास्त्रीय अनिवार्यताओं की भीत विरह वर्णन पर खड़ी की गई। इस विरह के दर्शनीकरण में कबीर जैसी प्रतिभा भी लग गई। पुष्टिमार्गियों तथा राधास्वामियों के बड़े–बड़े समूह सचेत या अचेत रूप में चटकारे लेते रहे। कश्मीरी के सूफी कवियों स्वच्छ क्राल से लेकर अहदजरगर तक ने स्त्रैण स्वर में विरहजन्य शारीरिक उत्तेजनाओं का वर्णन किया। ऐसे में स्त्री कवि मीरा का विरहनिवेदन बहुत साधारण लगता है।

इस पृष्ठ भूमि में हम कश्मीरी की ललेश्वरी के कुछ ऐसे "वाख" देख सकते हैं जिनमें मिलन की उत्कट कामना आधारभूत विरह–भावना को ही उजागर करती है।

पिया को खोजने मैं निकली
सुध न रही कब यह दिन बीता, कब यह रात ढली
मिले अंत में घर पर ही तो मेरे कंत छली
मेरे उनके स्नेह मिलन की थी यह घड़ी भली।

सखी री मैं तो खोज थकी घर प्रिय का
झेल हजारों कष्ट अंत में मिली कंत की नगरी
झांका मैंने – बन्द द्वार थे, काँपे उत्सुक पग री
कच्ची मेरी प्रीत न समझे, किन्तु कभी यह जग री
बैठ गई मैं द्वार पिया के नेह जताने हिय का।।

(अनु० : शशि शेखर)

स्त्री द्वारा मिलन की उत्कट चाह को पुरुष को पूर्णत्व देने का महान उपक्रम भ कह सकते हैं, यह ज्यादातर पुरुष–अनुमत विरह–प्रदर्शन ही रहा है। यह भूल नहीं जान चाहिए कि "लल" की रचना का उत्स उसके गार्हस्थिक वैषम्य में मौजूद था। मैं यह नहीं कहता कि शिवशक्ति का रूपक उसने केवल इस कारण चुना कि इसमें उसके व्यक्तिगत अधूरेपन का पूरक मिल गया। किसी सार्वभौम प्रभावतरंग से अछूता रह पाना आज के विकल्प बहुल समाज में मुश्किल होता है, आज से छः सौ साल पहले और भी मुश्किल रहा होगा, जब समाज ज्यादा संवृत्त था। फिर भी यह सच है कि प्रतिभाएं बह नहीं जातीं, बल्कि किनारे पर खड़ी रह कर बहती सतहों के संदर्भ में अपने पैर तले की ठोस जमीन का निरीक्षण करती हैं जैसा कि लल ने बहुत हद तक किया। उसकी अभिव्यक्ति दमघोंटू दाम्पत्य को चेतावनी देती है और घूंघट में मर्यादित तथा प्रशंसित जीवनयापन के तमाम प्रलोभनों के बावजूद निर्वसन उच्छृंखलता की सार्वजनिक स्वीकारोक्ति करती है। वह, स्त्री के द्वारा निरपेक्ष व्यक्तित्व–स्थापना की चेष्टा का भान जरूर कराती हैं, पर थोड़ी दूर जाकर यह उपक्रम चुकता नज़र आता है। कवयित्री के आग्रह का विषय बदल जाता है और कश्मीर की इस प्रतिभा की स्त्रीउचित अस्मिता दर्शन के जंतर–मंतर में खो जाती है। धार्मिक और दार्शनिक अवधारणाएं, लल की काव्याभिव्यक्ति के शिखर नहीं। स्त्री का स्वर दार्शनिक मुद्रा लेकर सामान्य मानवनियति का व्याख्याता बन जाता है। संसार, जीवन–मृत्यु, लोक–परलोक की शैवमत सम्मत स्थापनाएं होने लगती हैं। लल के समकालीन शेखनूरुद्दीन की कविता को 'कश्मीरी कुरान' कहा जाता है। वे जरूर कवि से ज्यादा धर्म–प्रचारक तथा उपदेशक के रूप में उभरते हैं, और लल उनसे कहीं ज्यादा अच्छी कवयित्री हैं, पर इसी साम्य ('एनालॉजी') पर हम लल की दार्शनिक कविता को शैवमत का कश्मीरी संस्करण भी कह सकते हैं जिसे एक समर्थ रचयिता ने प्रस्तुत किया।

कश्मीरी काव्य का एक सर्वेक्षण दिखाता है कि पुरुष के प्रेरणा स्रोत कई हैं, जबकि स्त्री के लिए प्रेरणा की रूप रेखा अधिकतर परिवार के टूटने बिखरने में निहित होती है। शेखनूरुद्दीन और दर्जनों परवर्ती पुरुष सूफी कवियों की काव्य प्रेरणा अध्यात्म है, जबकि उनमें से कई विवाहित थे, कई अविवाहित, कई ने विवाह करके दाम्पत्य तोड़ दिया और कई गृहस्थ रहते हुए भी दाम्पत्य जीवन से अछूते रहे। परन्तु किसी कवि को कविता की प्रेरणा घर–संसार के अनुभवों से नहीं मिली। जाहिर है पुरुष का अनुभव संसार व्यापक था, जबकि स्त्री को उसने गृहस्थ की धीमी आंच में पकने के लिए छोड़ दिया था। स्त्रियों पर इसके दो परिणाम हुए। एक यह कि अनुभव क्षेत्र सीमित हो जाने से अनुभावक सीमित हुए। छः सौ साल के कश्मीरी काव्य में सिर्फ चार उल्लेखनीय स्त्री नाम मिलते हैं, अनुल्लेखनीय दो चार और होंगे और बस। दूसरे यह कि इनकी काव्य–यात्रा का आरम्भिक बिन्दु परिवार की टूटन जरूर होता है। "लल" की ही तरह सत्रहवीं सदी की रूपा भवानी की प्रतिभा ससुराल की ताड़ना से जाग पड़ी। लल का पति पनघट तक उसका पीछा करता है और सरेआम उसके कंधे पर रखे घड़े को तोड़ देता है। सास तो सास है। वह बहू की स्वंतत्र चेतना को शुरू से ही दबाए रखती है और उसका व्यक्तित्व कुंठित करने के लिए थाली में चावलों के तले (सिल–बट्टे वाला) बट्टा छिपाकर रख देती है। रूपा का संदेह ग्रस्त पति आधी रात को जासूस की तरह

पत्नी का पीछा करता है। यह सच है कि रूपा के काव्य में लल के जैसे और लल के जितने स्त्रीउचित उद्‌गार बहुत ही कम मिलते हैं, क्योंकि दोनों के कवि–व्यक्तित्व तथा प्रतिभा में अन्तर है। फिर यह भी है कि रूपा पर शैव दर्शन इतना हावी हो गया था कि उसका व्यक्तिगत दुखदर्द महत्वहीन हुआ जान पड़ता है। दर्शन की भी वह लल जैसी व्याख्याता नहीं तथापि इस प्रकार की उक्तियाँ लल की ही तरह उसके वंचिता तथा उपेक्षिता होने का संकेत करती हैं :

नारी हूं मैं
काश लगाले मेरी नैया पार
हाय जिसे मैं खोजूं, वह तो
संग मेरे है, कर लेगा उद्धार।

कभीं उसे अपनी नियति ललेश्वरी से मिलती–जुलती लगती है :–

उपवन में चली गई मैं, किसके भाग बदी
अहोभाग्य जैसे मैं शिव से शक्ति बंधी
ललेश्वरी देवी के चरणों में मैं आई
शरण पिता सद्‌गुरु 'माधव' से मुझे मिली।

यह संयोग नहीं कि दर्शन की परिमिति में भी पारिवारिक विघटन को वाणी देती हुई इन कवयित्रियों के अलावा कश्मीरी की दो प्रतिभाएं हब्बा खातून तथा अरिनिमाल का प्रगीत काव्य या तो परिवार की टूटन के दंश का परिणाम है या इस दंश से विस्तार पाता है। यह ध्यातव्य है कि जहां लल तथा रूपा में दर्शन का आग्रह संसारिक परिप्रेक्ष्य को कद्रे ढक लेता है – अरिनि और हब्बा में ऐसा कोई अनायास या सायास उपक्रम नहीं। प्रगीत में उच्छ्‌वास ज्यादा सही अभिव्यक्ति पाता है, जबकि "वाख" की परम्परा दार्शनिक उक्तियों के लिए ज्यादा उपयुक्त थी। पर स्वच्छंद मन की स्वच्छंद अभिव्यक्ति होने के कारण प्रगीत ही हब्बा तथा अरिनि के लिए बंधनों की सही अभिवयंजना बन सका। यह विवादास्पद हो सकता है कि हब्बा का प्रिय, बादशाह यूसुफ शाह चक ही था या कोई और, पर इस बात में कोई संदेह नहीं कि उसकी सर्वश्रेष्ठ कविता उसके विवाहकाल में हुई, जो उसके जीवन में दो बार आकर भी उसे अधूरा और रुलाता कलपाता ही रहा। उसकी कविता का सौन्दर्य गार्हस्थिक प्रेम की तृष्णा तथा तड़प के कारण बढ़ता है।

तुझको मेरी किस सौतन ने भरमाया
काहे मुझ से वितृष्णा हुई?

उसके प्रेम की चरम सीमा प्रिय के सामने शरीफ निष्काम समर्पण है कि वह उसे उपभोग्या माने :

मैं बिछी तुम्हारे लिए धरा, छा जाओ आसमान मेरे!
मेरे अभाव पर कर पर्दा
मैं तेरी थाली का व्यंजन, आ! जाओ मेहमान मेरे!
मेरे वसन्त के फूल लुटा।

अट्ठारहवीं सदी की अरनिमाल की पारिवारिक त्रासदी का कारण पठानों का बर्बर शासन था। पति भवानीदास काचरू श्रीनगर के राजदरबार में इतना खो गए कि अरिनि के उसे मनाकर गांव घर लाने के सभी आर्य तथा अनार्य उपक्रम असफल हुए। बेचारी ग्राम बालिका मैके में पड़ी अंत तक पति की प्रतिक्षा करती रही और जब वह दरबारी चौंध से उकताकर आया तो उसके स्वागत में अरिनि की अर्थी का जुलूस आ रहा था। टूटन का दर्द अरिनि की कविता के शब्द—शब्द और अक्षर—अक्षर में मौजूद है:—

निपट अकेली, अंधकार में
नदिया में, इस हिम बयार में
छोड़ गया वह, किसके दुख की बात कहूं ?

ताज्जुब नहीं कि खातून की ही तरह अरिनिमाल के विरहगीत लोकगीतों में शामिल होकर प्रचारित हुए हैं। लोकमानस परम्परासिक्त विश्वासों तथा प्रणालियों को दृढ़ से दृढ़तर करता जाता है। इस में असहमति तथा प्रतिरोध का स्वर बहुत कम होता है। कश्मीरी कवयित्री के प्रतिरोध का स्वर ही क्षीण है। इसलिए वह ज्यादा सरलता से लोक काव्य का अंग बन जाता है।

उपर्युक्त प्रमुख कवयित्रियों के अतिरिक्त जिन महिलाओं के नाम इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं, उनकी थोड़ी बहुत रचना गुरु या पिता या पति के साथ उनके सम्पर्क या सम्पर्कहीनता का परिणाम थी। ज़यदयद के कुछ पद्यबद्ध वार्तालाप बताए जाते हैं जो उसने पति शेख नूरुद्दीन से किए। अटठारहवीं सदी की "बीब साहिबा" ने लल की ही तरह गृह त्याग किया और कुछ सूफियाना गीत कहे, जो मात्र तथा गुण दोनों दृष्टियों से महत्वहीन हैं। समकालीन कवियों में कुछ ऐसे नाम जरूर मिलते हैं जो प्रतिभाशाली हैं, पर दर्जनों पुरुष कवियों के बहुआयामी लेखन में उनकी स्थिति नगण्य हैं। शायद आज स्त्री को कुल मिलाकर अपनी रूचि का पारिवारिक जीवन उपलब्ध है। कानून ने परिवार की सुरक्षा और अनुकूलता का प्रबन्ध किया है। कद्रे सुनिश्चित और विप्लवहीन जीवन, अभिव्यक्ति के लिए कम प्रेरणा प्रदान कर रहा है। लेकिन धार्मिक पुनस्स्थापना (रिवाइवलिज़्म) की सी कुछ प्रतिक्रियावादी विचारधाराएं स्त्री के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन को पहला निशाना बना रही हैं । ऐसे में स्त्री जो अनुभव करती हैं, उसे अभिव्यक्त क्यों कर नहीं पा रही? इस प्रश्न का उत्तर हमें आज की व्यवस्था में ढूंढ़ना होगा, जिसका अभिशाप यह है कि आतंकवादी मुद्रा अपनाकर, विवेकहीन अल्पसंख्या ने विचारशील परन्तु मौन अधिसंख्या को गूंगा बना के छोड़ दिया है।

काटेगा फरहाद गुफा और पर्वत ही
मधुर मिलन शीरीन–संग या मिले दर्द-
अवसाद, सुंदरी ?
मोमिन खुले आम है आशिक मक्के का
हिंदू पर्वत की देवी पर बलि जाए
निर्बाध, सुंदरी !
–न्यामुँ साहब

हमें चाहिए मर जाना ज़िंदा तन से
समझेगा रे रिंद ! एक होगा मन से
तुझे चाहिए लेना टोह कौआ बनकर
होगा पानी, पानी–दूध अलग होकर
निखर आएगा मोल तेरा निर्मल बन के।
–शम्स फकीर
(रिंद = ज्ञान की मदिरा का मतवाला)

बसा नदी के भीतर सोते का पानी
सोता किस से फूटा रे ?
एकोऽहं में घुसो, बनोगे रे ज्ञानी
सोता किस से फूटा रे ?
चार भुवन में बहे पवन का रे पानी
प्रवाह न निशि–दिन टूटा रे
आया गया कहां, दिशाएं सम मानीं
सोता किस से फूटा रे ?
दरिया के अंदर बसता था साधू गोसांई
यादे खुदा करता था सिमरन सांई
जल भरता लोटा लोटा रे !
–शम्स फकीर

इस कुम्हार ने किस्म किस्म के बरतन ढाले
रंग बिरंगे उन का कोई अंत न सूझे
सब पक्के निकले बस मैं ही कच्चा अनजाना
माशूक आ गया याद मुझे वह दीवाना।
–शम्स फकीर
(1843-1904)

जिसे बुलाऊं वो तो मेरे पास सदा
किस शीशे में मुझको मदिरा पिला गया !
साज़ पे तार केश के अपने बांध लिए
छहों दिशाओं को अपने में समो लिया
संगीत साज़ का मेरे भीतर स्वंय बजा !
–न्यामुँ साहब

इस शरीर से सफर दूर तक जो करता
मरने की, खुशखबरी का वो दम भरता
ऑंच न आए उसे मौत को स्वंय जो वरता
मुझ रूपसि का दिल देखो वो चुरा गया !
–न्यामुँ साहब
(1805-1880)

रूप तुम्हारा जुल्फ तुम्हारी दीनधरम समझे रसूल
ए निगार वो क्या जाने क्या कुफ्र भला, इस्लाम भला?

फूल-से उस रूप पर चमके पसीना ओस-सा
"उच्च-ग्रीवा-यार" के मुख-चांद पर तारे चलें।
–रसूलमीर

या शमशेर तेरी भौंहें हैं या कमान हैं
या हिलाल हैं या मेहराब, आ जाम पिला !
अलिफ तेरा कद, जुल्फ हैं लाम, मीम है मुंह सुंदर
इस अलिफ-लाम-मीम सबक से, मेरे प्रिय,
मेरी बुद्धि ही हार गई।
–रसूल मीर(-1870)
(निगार= प्रियतम कुफ्र=गैरइस्लाम
अलिफ लाम मीम = कुरान का पाठ)

कश्मीरी भक्ति साहित्य : एक और दृष्टि

कश्मारी साहित्य के करीब 1000 वर्ष के इतिहास में (यदि "छुम्म" सम्प्रदाय के, पुरानी कश्मीरी में रचे हुए पदों का समय ग्यारहवीं सदी माना जाये) चौदहवीं सदी (जब ललेश्वरी और नुंद ऋषि जैसे कवि हुए) काव्यानुभव की गहराई के कारण याद की जाती है, तो उन्नीसवीं सदी ऐसे अनुभवों की विविधता और विस्तार के कारण।.यह भी हो सकता है कि चौदहवीं शती के कवि को सिर्फ "छुम्म" पदों और "महानय प्रकाश" की रहस्यवादी कविता की इकहरी विरासत मिली थी, सिर्फ हिन्दू–बौद्ध दर्शन की परम्परा से उसका परिचय था तथा सिर्फ संस्कृत और अपभ्रंश का भाषाई ख़ज़ाना प्राप्त था, जबकि उन्नीसवीं शती तक आते–आते कश्मीरी कविता की नदी में इस्लामी धर्म–दर्शन, कथा–साहित्य के गरजते नाले भी आ मिले थे, (कश्मीर में इस्लामी प्रभाव बारहवीं–तेरहवीं शती से विधिवत बढ़ता ही गया) फारसी अपनी तमाम शान और हाकिमाना जाहो जलाल के साथ आकर प्रभुत्व पा चुकी थी और उत्तर भारतीय भक्ति काव्य (कबीर, नानक, तुलसी, सूर) के फैलते वृत्त भी पहुंच चुके थे। (ईलियट के मतानुसार हम विगत कवियों से ज़्यादा जानकारी रखते हैं क्योंकि हम उन कवियों की जानकारी रखते हैं) चौदहवीं और उन्नीसवीं शती के काव्य की तुलना गहराई और विस्तार की तुलना करने के उद्देश्य से की जा सकती है क्योंकि ललेश्वरी (या ललद्यद) के जैसे काव्यानुभव और संवेदना की गहराई को उनके बाद कोई छू नहीं सका है। दो तीन सदियों के बीच, यों तो, हब्बाखातून तथा अरनिमाल जैसी गीतकार हुई, जिन्होंने पंद्रहवीं सदी के अवतार भट्ट ("बानासुर कथा" के कवि) और गणक प्रशस्त ("सुखदुख चरित" के रचयिता) की गेयता को लोकमानस में उतारकर उन्नीसवीं सदी के फारसी बहुल गीतिकाव्य को कश्मीरी के लिए स्वीकार्य बनाया। पर दो चार सौ साल का अंतराल कर्तत्व की दृष्टि से न खास रचना–गहन है न ही रचना–बहुल। इस दौरान कश्मीर उत्तर के शिया–चकों, मुगल–सरदारों, तथा पठान लुटेरों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का क्रीडा स्थल बना रहा और जैसे निरपेक्ष दर्शक बनकर तेज़ परिवर्तनों को देखने भोगने में खो गया कि "लल" तथा "नुन्द" के शुरू किए साहित्यांदोलन का विशेष प्रसार नहीं कर सका। उन्नीसवीं सदी तक आते–आते राजनीतिक सामाजिक उथल–पुथल स्थाई होने लगी थी इसलिए इसे कुबूल करके ही रचना विविध रंगों में खिल

सकी। उन्नीसवीं सदी में एक ओर मसनवियां, गज़लें, जंगनामें, नातें लिखी गई अर्थात भेड़ू काटें या भेड़ा, लल के भाग में वही पत्थर है (जो उसकी थाली में चावलों के नीचे रखा जाता है। तो दूसरी ओर सूफ़ी रहस्यवादी कविता तथा "लीला" काव्य। मसनवी और लीला, इस सदी से पहले ही लिखनी शुरू हुई थीं। पहला मसनवीकार महमूद गामी अट्ठारहवीं सदी में हुआ था और पहला "लीला" कवि साहिब कौल भी अठारहवीं शती में ही।

''लीला'' साहित्य का विशेष अर्थ कश्मीरी काव्य के सन्दर्भ में ''भक्ति साहित्य'' होता है। ऐसा क्यों और कैसे हुआ, यह जानने के लिए ''लीला'' की अवधारणा पर अलग से प्रकाश डालने की जरूरत है।

''लीला'' का उल्लेख भारतीय भक्ति परम्परा में, विशेष तौर पर, कृष्णावतार के प्रसंग में हुआ है। कृष्णभक्ति के पुष्टिमार्गी, राधास्वामी और सखी सम्प्रदायों में। लीला से तात्पर्य वह मनुष्य–जीवनचर्या है, जिसे भगवान विष्णु अवतार रूप में इस धरती पर करते हैं या फिर वैकुण्ठ में नित्य करते रहते हैं, जिसकी अनुकृति में पृथ्वी पर उनका चरित सम्पन्न होता है। इस चर्या में सारे मानव सुलभ दुख–सुख जय–पराजय तथा जन्म–मृत्यु के विकार शामिल होते हैं, और इन्हें प्रभु भोगते हैं। पृथ्वी पर होते हुए भी वे परब्रह्म होते हैं और यह तथ्य उनके पार्थिव सम्बन्धियों, बन्धु–बान्धवों के छिपा नहीं होता। स्वयं प्रभु का दृष्टिकोण उनकी अपनी स्थिति के प्रति लीला या कौतुक़ का होता है क्योंकि वे स्थितियों के क्रम और अंत के ज्ञाता होकर भी उनके पार्थिव विकास के चरणों से गुज़रते हैं। उनके समकालीन बन्धु–बांधवों का एप्रोच उनके प्रति भक्ति का होता है। एक विचित्र नाटकीयता है इस दृष्टि–भिन्नता में। प्रभु सब कुछ जानते हुए भी एलिनेशन की भूमिका भोगने को विवश हैं क्योंकि उन्होंने अवतार रूप स्वीकारा है और वे मनुष्य–नियति भोगने को प्रतिबद्ध हैं। बंधु–बांधव, इस के विरुद्ध, कुछ ज्यादा ही ममता से उनके साथ व्यवहार करने को प्रेरित होते हैं। वे सब उनसे जैसे मोहाविष्ट (हिप्नोटाइज़्ड) होने में आनन्द–अनुभव प्राप्त करते हैं। शिशु रूप में उन्हें खिलाते, पालते, बढ़ाते है, उनके यौवन की भूलों पर कुढ़ना चाहकर भी हंसभर देते हैं। दुःख की घड़ी में उन्हें ढाढस देते हैं तथा तसल्ली पाते हैं। लीलाभाव कृष्ण भक्ति के प्रसंग में ज्यादा चर्चित रहा है, पर किसी सीमा तक रामभक्ति के प्रसंग में भी मौजूद रहा है। श्री राम के संगी विपदा आने पर उनकी स्तुति करते हैं और अपनी मुसीबत का निस्तार करने की प्रार्थना करते हैं, जबकि प्रभु खुद उबरने की चिन्ता में होते हैं। देवता समय–समय पर आकाश से कुसुमवर्षा करके दर्शकों और श्रोतागण को प्रभावित करते हैं ताकि अवतार का मूल ईश्वर याद रहे।

केवल खेल या कौतुक के अर्थ में ''लीला'' रास लीला के जैसे प्रसंगों में प्रतिपादित होती है जिसमें नाटकीयता कम है और नृत्य–संगीत ज्यादा। स्वयं कृष्ण चरित नाटकीय प्रसंगों से भरा पड़ा है। यह गौरतलब है कि कृष्णचरित लोकनाट्य में लोकप्रिय नहीं हुआ इसलिए नाटक की किसी परम्परा को जन्म न दे सका जबकि रामचरित (रासलीला के से प्रसंग के बिना भी और नाटकीयता की अनुपस्थिति में भी) रामलीला की नाट्य परम्परा में देश–विदेश में प्रचारित, प्रसारित और अनुकूलित हुआ। अनुकूलन तो खैर, किसी भी

अवतार—चरित के लचकीले वर्णन, अनुवर्णन—पुनर्वर्णन में होता रहा है, जिस कारण इस देश की कला उत्तरोत्तर निखार पाती रही है, और मिथक, कला में अभिप्राय के वाहन बने हैं।

''लीला'' शब्द का कश्मीरी में स्तुतिगायन या चरित गायन की अपेक्षा स्तुतिगीत या चरितगीत वाला अर्थ ज्यादा प्रचलित है, यद्यपि जीवन लीला या रास लीला वाला अर्थ भी चलता है। लीला मतलब भक्ति गीत। इसलिए भक्ति साहित्य को शुरू से ही लीला साहित्य कहा जाता रहा है। प्रथम लीलाकार साहिब कौल ने ''श्रीकृष्णावतार लीला'' (सन् 1738 ई०) नामकरण करते समय लीला के ''चरित'' और ''स्तुति'' दोनों अर्थ लिए होंगे। तब से हर भक्तिकाव्य ग्रंथ का या तो नामकरण ''लीला'' से हुआ या उसमें दी गई स्तुतियों को ''लीला'' कहा गया। जो भी हो यह स्पस्ट है कि इस काव्य में प्रभु के क्रीड़ाशील या लीलारत रूप को प्रमुखता दी गई। ऐसा करते हुए निर्गुण और सगुण, कृष्णभक्ति और रामभक्ति के विभाजक पचड़ों में कश्मीरी कवि नहीं पड़ा। कश्मीरी कविता का विद्यार्थी विवेकशील होकर ही इस काव्य की स्वतंत्र सत्ता का अध्ययन कर सकता है। भारतीय भक्ति काव्य के नियम यहां लागू नहीं होते यद्यपि इसकी मूल प्रेरणा भारतीय अवतारवाद की ही हैं जो उत्तर भारत में विकसित—प्रसारित होते होते विश्लेषण और सूक्ष्म विभाजन की प्रक्रिया से गुजरी। कश्मीरी भक्तिकाव्य इसके मुकाबले में संश्लिष्ट हैं। यहां तो कवि राम तथा कृष्ण को भी कभी—कभी गुणातीत बतलाते हैं, जो द्वैत अद्वैत विशिष्टाद्वेत आदि के सांचें में नहीं ढलते, पर इनके सामूहिक प्रभाव से प्रेरित जरूर लगते हैं। दूसरे यह कि स्थानीय शैवदर्शन का प्रभाव कश्मीरी चिन्तन पर इतना गहरा है कि उससे यहां का वैष्णव कवि भी अक्षुण्ण नहीं रह सका। इसी कारण वैष्णव काव्य की तर्ज पर शिव लीला काव्य भी रचे गए और शिव का प्रेमी—नायकत्व कविता का विषय बना। कहना न होगा कि त्रिकदर्शन के प्रभाव ''राधा स्वयंवर'' या ''सुदामा चरित'' काव्यों में भी लक्षित होते हैं। ऐसे में गणेश, हनुमान या राज्ञादेवी जैसे अवर देवता भी पौराणिक नखशिख के बावजूद निर्गुण निराकार हो उठते हैं। तथाकथित निर्गुण भक्ति कश्मीरी काव्य में या तो ललद्यद, नुंदऋषि, रूपाभवानी में प्रकट हुई या इस्लामी दर्शन के मिश्रण के साथ अठारहवीं उन्नीसवीं शती के सूफी अध्यात्मवाद में। यों, कबीर के ''राम'' की तरह ललेश्वरी ने भी ''शिव'' ''केशव'' ''जिन'' और ''कमलजनाथ'' का नाम लिया, हां कबीर की तरह आवृत्ति के साथ नहीं, दो एक जगह पर ही।

''लीला'' कश्मीरी कविता की कोई विधा नहीं, जैसा कि कुछ आलोचक बताते हैं। भक्ति की उद्भावना ''जन्मचर्यथ'' जैसी लम्बी कविता, ''रामायणों'' (प्रकाशराम, शंकर, आनन्द, विष्णु प्रताप, शर्मा, ताराचन्द, अमर) और रामगीता (लक्ष्मण कौल ''बुलबुल'') जैसे महा काव्यों, ''राधा स्वयंवर'' ''सुदामाचर्यथ'', ''शिवलग्न'' जैसे लघुकाव्यों और उनके अलावा सैंकड़ों मुक्तक गीतों (लीलाओं) में हुई। बीसवीं सदी में कृष्ण राज़दान जैसे महाकवि के बाद भी मास्टर ज़िदा कौल, गोविन्द कौल आदि की मुक्तक कविताओं में निर्गुण, सगुण भक्ति की प्रेरणा मौजूद है।

दार्शनिकता के बोझ से कद्रे कम दबी होने के कारण लीला कविता मानवसुलभ दुख—सुख और सामयिक दशा—दिशा के वर्णन—चित्रण से ओतप्रोत है। यह बेवजह नहीं कि

16वीं शती में ही सूफी कविता की तरह लीला काव्य का समुचित विकास हुआ। यूं तो धार्मिक प्रेरणा सदा जग तथा जीवन की ही तरह कविता को भी आप्लावित करती रही, पर 16 वीं सदी में यह खुल कर प्रस्फुटित हुई। चौदहवीं सदी धार्मिक तथा राजनीतिक संक्राति के एक छोर पर है, जब कश्मीर हिन्दू प्रभावों से छूटता हुआ मुसलमान प्लावन से आन्दोलित हो रहा था और हर्ष के बाद रिंचन शाह तथा सिंकन्दर बुतशिकन की राजनीति के नए तेवर भोगने लगा था। उन्नीसवीं सदी के दूसरे छोर पर कश्मीर पठान अन्याय के तले, "बिला लिहाज़ मज़हबों मिल्लत" पिस रहा था और विदेशी शोषण यहां की नियति बन चुका था। राज, साम्राज्य और सामंतवाद ही सामाजिक अनुभव के आयाम निर्धारित कर रहे थे। प्रकाशराम के रामायण में इस सामंती व्यवस्था के कई संकेत मिलते हैं। उन्होंने रामकथा को कश्मीरी आयाम दिया। राजा राम तथा उनका दरबार यद्यपि पठान दरबारों जैसा नहीं, पर रामदरबार वर्णन के साधान, संकेत और अवधारणा इसी दरबार से ली गई हैं। दरबारी जर्बाफ़्त और अतलस के चोगे पहने आते हैं और नज़राना पेश करते हैं। सुग्रीव "शाह" बनते हैं, अंगद को "वजारत" दी जाती है, हनुमान "पेशकार", जामवंत "कोतवाल" बनाए जाते हैं। विभीषण के लंकाराज बनने पर पहला "हुकमनामा" यह होता है कि किसानों का लगान माफ किया जाए। इसी प्रकार परमानन्द की एक प्रसिद्ध कविता है "कर्मभूमिका" । इसमें अपने समय के काश्तकारों, मजदूरों के जीवन तथा जमीदारों से उनके सम्बन्धों का भी वर्णन किया गया है। कृष्ण राज़दान ने लोक जीवन को भाण्ड–जश्न (एक कश्मीरी लोक नाट्क–शैली) के रूप में देखा है और वे इस प्रसंग में विभिन्न पेशेवरों जैसे कुम्हार, मसखरे, कुंजडे, लोहार, मिस्त्री, पहलवान, रसोइये, माली आदि की जिन्दगी से प्रतीक लेते हुए उनकी दुर्दशा का भी वर्णन करते हैं। बल्कि देशभक्ति का पहला सीधा जिक्र उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में रचनारत कवि कृष्ण राजदान ने ही किया है –

देश के लिए जो मुझ से अपना सुख मांगे
वह धर्म का सूर्य है
अब अंधकार दूर हो जाएगा
कृष्ण चंद्र मेरे यार जो है
चुप रहने से लोगों को कुछ नहीं मिलेगा
शायद मेरी कविता उनको सुख दे सके
कुछ नहीं तो मुझे देशभक्त, देश सेवक कहा जाएगा–

असुर चरित्रों रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद, कंस, बकासुर, पूतना आदि के चरित्रण के जैसे स्पष्ट रंग इन काव्यों में उभारे गए हैं। इस में कवि के अवचेतन में बसे पठान शासकों के जुल्मोसितम के भी चित्र कार्यरत रहे होंगे, जिन्होंने पारम्परिक सहिष्णु शासकों को भी नहीं बख्शा, कश्मीरी पण्डित पर ज़्यादा ही बल प्रयोग किया। इसका बेलाग वर्णन, और तो और, हसनशाह ने अपने फारसी भाषा में लिखे इतिहास में भी किया है।

प्रयोगात्मकता, प्रबन्ध–लीला–काव्यों का कोई उल्लेखनीय गुण नहीं। कथा–सूत्र

"प्रकाश रामायण" में अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है, पर वहां भी जगह–जगह पारंपरिक लीला "स्तुति" गीत प्रमुख हो उठा है। न ही "राधा स्वयंवर" या "शिवलग्न" में कथा के प्रति कोई रुझान है। लीलात्व की प्रमुखता इनमें है ओर वही इन काव्यों के सौन्दर्य का बिन्दु है। ये स्तुतियां प्रकृति चित्रण, प्रेमातिरेक–वर्णन, भाषा सौन्दर्य तथा लोक जीवन के चित्रांकन की दृष्टि से कश्मीरी गीत काव्य की निधि हैं।

●

वहां सुबह या शाम नही
कलमा वहां न राम नहीं
मज़हब मिल्लत नहीं सुखन
ज़िंदा रह परखो जीवन
सौतन ने दी दुई तो मुझे कठिनाई में डाला
एक हुआ मैं जब तो मैंने आपा अपना खोया।
–अहद ज़रगर

काफिर करे तपस्या है भगवान की
यही उचित सेवा रहस्य के ज्ञान की
सदा भक्ति में रहता शिव नारान की
इस बुतखाने में होते हैं ठाकुर सात
जिनकी पूजा करते रहते साधू सात
मुद्रित करके सात दिशाएं प्राण की।
–अहद जरगर
(1908-1984)

किसने तुमको तावीज़ों में गांठ लिया
अनरित्तत्व के बीच मुझे अस्तित्व मिला
यह संदेस फिरिश्तों ने बस बांट लिया

यार मेरे, बचपन के मेरे यार बोल !
राज़ मनुख की खाल के भीतर छिपा रहा
यार मेरे, बचपन के मेरे यार बोल !
–वहाब खार

चाम जला दी मेरी मेरे यार ने
चिपक रहे हैं अब तक तन से अंगारे
उस दरिया का शोर वही समझे जाने
एक बार जो हो आए
हार मोतियों का निकाल कर
वही किनारे ले आए
उसे ढूंढ़ने मैं निकलूंगी आज सरे बाजार में
झुलस गई मैं प्यार में।
–वहाब खार
(- 1913)

ओ किसान लड़की सुंदरी, ओ नाज़ों वाली !
ख्वाजाओं की महिलाएं,क्या तुझसे करलें समता
चार दिवारी के अंदर वे बंद पड़ी रहती है
तू स्वतंत्र है, खेतों में आस्तीन चढ़ाए विचरे
अपने मन की गाए
तेरे बाजू थके तो नहीं करते रोज़ गुड़ाई ?
ओ किसान लड़की, सुंदरी !

—गुलाम अहमद महजूर

जन्नत की है हूर आज़ादी घर घर जाए
क्यों कर ?
केवल खास घरों में वह झूमे मटके
कहती तो है आज़ादी—
मै पूंजीवाद मिटा दूंगी
इसीलिए है व्यस्त बटोरती
अपनों से ही पैसा
निर्धनता की, विपन्नता की, मनमानी से
काली छाया का प्रसार
हम सब पर करती आज़ादी

—महजूर

गुलो रे तुमने नहीं देखा तो मेरे यार को ?
बुलबुलो तुम जरा ढूंढो तो मेरे दिलदार को।

*

सूरज मुखी थालियों में भर भर कर मुहरें लाया
आसमान से उतरा जैसे ढेरों प्यार लिए आया।

*

इस्पंद जलाकर स्वागत करता है गुलाल
खिली सुबह की धूप से ज्योंही रंग लाल।

—महजूर

ज्योंही आया हुस्न हवा—सा मज़ा ले गया, शोर मचा
अब क्या कहूं कि बात यही जुल्फों का कंपन बोल गया।

—महजूर
(1885-1952)

जोश से मैं किनारों तटबंधनों को तोड़ता रहता
ऊंचाई कि गहराई सभी को एक समतल कर रहा हूं मैं
दरिया हूं कि यों ही बह रहा हूं मैं
मुश्किलें हों सतत सबके सिर दबाता होश लेता छीन
न पड़ता उलझनों में, न बचता कशमकश से
बढ़ता रहूं टकराता बाधाओं बलाओं से
समेटा यूं करूं
बिखरा हुआ अस्तित्व अपना।

—आज़ाद

कुदरत का अगर उद्देश्य होता
मज़हबों को और कौमों को अलग रखना
तो फिर होती अलग धरती सबकी
आसमान सब के अलग होते।

—अब्दुल अहद आज़ाद
(1903-1948)

आधुनिक संदर्भ में कश्मीरी की लीला-कविता

अठारहवीं सदी में कश्मीरी "लीला" कविता की नींव पड़ी, जब साहिब कौल ने "जन्मॅु चर्यथ" (जन्म चरित) लिखा। उसके साठ–सत्तर वर्ष बाद "लीला" शाखा का पूरा विकास हुआ। "भक्ति" तथा "लीला" समानार्थक शब्द नहीं। इन में अन्तर समझना जरूरी है। कश्मीरी के अधिकांश समालोचक इस अन्तर की उपेक्षा कर देते हैं। "भक्ति" एक सामान्य पारिभाषिक शब्द है जिसमें "निर्गुण" तथा "सगुण" दोनों प्रकार की साधना अर्चना और रचना आती है। यह भक्ति के अखिल भारतीय सन्दर्भ में भी सच है और कश्मीरी साहित्य के सन्दर्भ में भी। कश्मीरी की "लीला" शायरी एकदम सगुण भक्ति की कविता भी नहीं, यद्यपि ऐसी अधिकांश कविता को "सगुण" के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। कश्मीरी में हम महागणपति की "लीला", राम "लीला", भगवत "लीला", देवी की "लीला" जैस नामों का प्रयोग करते हैं। इनमें, जैसा कि स्पष्ट है क्रमशः गणपति, राम, भगवान या देवी के गुणों का गायन होता है। "भगवान" या "देवी" की "लीलाओं" में सामान्यतः ईश्वर (बीच–बीच में उसके त्रिमूर्ति या अवतारी रूप का भी संकेत होता है) या देवी के (उसके राज्ञा, शारिका, दुर्गा काली या किसी स्थानीय अवतार या प्रतिरूप के भी) गुणों की स्तुति होती है। पर कई बार किसी नामधारी देवी या देवता के नाम से कविता रची जाती है यद्यपि उसमें फिर नाम के अनुरूप गुणों का ही बखान नहीं होता, निर्गुण किस्म के भाव भी आते हैं। कई बार देवी या देवता को "हे निर्गुण! हे निर्लेप!" कहकर संबोधित किया जाता है। यह एक अलग विषय हो सकता है और इस पर गहराई से सोचने की जरूरत है।

आज के लगभग ढाई सौ साल पहले जब कश्मीरी में भक्ति की "लीला"प्रवृत्ति शुरू हुई तो उसके स्पष्ट साहित्यिक तथा सामाजिक कारण थे। आगे चलकर यह प्रवृत्ति उन्नीसवीं सदी में परमानन्द, प्रकाशराम तथा कृष्ण राजदान की कविता में पराकाष्ठा पर पहुंची। फिर बीसवीं शती में कुछ रामायण–कवियों तथा मास्टर जिंदा कौल ने इसे आगे बढ़ाया। इस दौरान बीसियों छोटे–बड़े कवियों ने अपनी (प्रकाशित या अप्रकाशित) रचनाओं में इसे जीवित रखा।

हर साहित्यिक प्रवृत्ति का विकास काल, चरमावस्था काल तथा अवसान काल होता है। पर "लीला" के साथ ऐसा नहीं हुआ। भले ही लीला–काव्य की चरमावस्था उन्नीसवीं सदी के अंत तथा बीसवीं सदी के आरम्भ में थी, पर फिर इसका अवसान नहीं हुआ। और तो और यह अभी तक जीवित है। अभी भी कई कश्मीरी कवि गर्व से "लीलाएं" लिख रहे हैं।

"लीला" कश्मीरी में कोई काव्य–विधा नहीं है। वर्ण्य–विषय की दृष्टि से यह अन्य कविताओं से भिन्न जरूर होती हे, पर विधा के अन्तर्गत केवल वर्ण्य विषय नहीं आता, विषय से ज्यादा रीति या शैली आती है। लीला की कोई अपनी शैली नहीं। इस वर्ग में आने वाली कविताओं में मूलतः किसी देवी या देवता या अवतार के जन्म, उसके जन्म लेने के फलस्वरूप धरती पर पाप का भार हल्का हो जाने और उसके जीवन चरित्र को बखानते हुए कवि की नम्रता और विनय का वर्णन होता है। इस दृष्टि से इसे हम मोटे तौर पर "सगुण" कविता के अन्तंर्गत रख सकते हैं।

प्रश्न यह है कि आज इक्कीसवीं सदी तक आते–आते जब विज्ञान और भौतिक शास्त्र ने मानव की अभिवृत्ति ही बदल दी, सोच में भौतिकता लाई तथा वस्तुगत रुचियों में तर्कशीलता बढ़ा दी, दैनंदिन जीवन में बौद्धिक द्वंद्वात्मकता की वृद्धि की ; चिंतन में, तथा विश्वास में सूक्ष्मता और अरूपता को ज्यादा प्रश्रय दिया, तो हमारे (बुद्धिजीवी) कवियों के लिए भगवान और भगवती, राम और कृष्ण, गणपति और शारिका आस्था और काव्यभिव्यक्ति की प्रेरणा बने रहने के पीछे क्या कारण थे? बाहर से जब हम बौद्धिक अभिवृत्ति अपनाते हुए जिन्दगी की समकालीन गति से कदम से कदम मिलाते हैं तो क्या भक्ति या आस्था का एक मुखौटाभर होता है जो हमारी तर्क–विरोधी सोच को ढकता है। इस प्रश्न का सम्बन्ध सामान्य मानवीय सोच से है और उत्तर भी वहीं मौजूद है। सामान्य जीवन में आस्था और विश्वास उसी अनुपात में कम नहीं हुए हैं जिस अनुपात में ज्ञान विज्ञान और बौद्धिकता बढ़ी है। इस संदर्भ में विचारक और चिन्तक, आदमी की तथाकथित नियामक नियति की अतार्किकता का हवाला देते हैं। मानव नियति प्राकृतिक नियमों के समानान्तर चलती है। प्रकृति में नियमितता या नियमानुकूलता से ज्यादा नियमहीनता और यदृच्छा है। नियम हमारी समझ में आ जाते हैं या यों कहें कि नियम समझने से हमारी प्रकृति की आंशिक समझ शुरू हो जाती है। पर प्रकृति अंश नहीं समग्र है और ऐसे बिन्दु पर आकर आस्था या विश्वास के प्रमेय गढ़ना शुरू हो जाते हैं। कवि एक सामान्य मनुष्य है और वह भी विश्वास तथा आस्था के प्रमेयों पर घूमने लगता है। कवि की आस्था किसी अरूप पर हो सकती है। बौद्धिकता इस बात में है कि वह अनुभव की सत्यता (न केवल तथ्यता) को स्वीकार करता है। हमारे कवि का सत्य यह है कि आस्था के बिना उसकी गति नहीं– आस्था अदृष्ट परन्तु सर्वव्यापक पर। दूसरे शब्दों में अरूप परन्तु सर्वरूप पर।

आज के कवियों की "लीलाएं" पढ़कर लगता है कि ये निरे भाग्यवादी नहीं और विद्या, ज्ञान और विज्ञान को उस समय तिरस्कृत नहीं करते जब अपने प्रिय देव का बड़प्पन बता रहे हों। इनकी मान्यता है कि जीव जगत जीवन, मरण के बारे में अनुभव–निसृत विश्वास अटल सत्य है। पर पढ़े–लिखे, नए आविष्कारों, ज्ञान की नई सरणियों के पथिक भी हैं। इसलिए उन की "लीला" कविता, उन्नीसवीं शती की लीला कविता से अंशतः भिन्न है। गत

शती की "लीला" देवता के गुणगान करते हुए उसका वह सारा रूप कुबूल करती थी, जो पुराणों में रेखांकित किया गया है। उदाहरणतः महागणपति की उन्नीसवीं शती की "लीला" में गणपति के वक्रतुण्ड, हस्तिकर, महोदर, मोदकप्रिय, मूषकवाहन आदि होने का बखान करके कवि उसकी विलक्षणता की उपासना करता था। शंकर की जटाओं में गंगा के समा जाने की घटना को वह कवि आश्चर्य और अपूर्वता की घटना मानकर उसकी पुनरावृत्ति के लिए प्रभु से विनती करता था। इसलिए देवता केवल ईश्वरत्व या असीम शक्ति के स्रोत होने के कारण उसके लिए उपास्य नहीं थे बल्कि जैसे चमत्कार उन्होंने किए बताए गए थे, उनसे वैसे ही दोबारा करने की एक प्रच्छन्न उम्मीद कवि के मन में हमेशा रहती थी। किसी हद तक कहा जा सकता है कि देवों का परामानवीय, मानवेतर, मानवोपरि, अमानुषेय रूप उनको ज्यादा आकर्षित करता था।

आज के कवि भी देवी–देवताओं का नाम लेते हैं। उनके सर्वशक्तिमान रूप का जिक्र भी करते हैं परन्तु उनके परामानवीय बाह्य रूपाकार को इनका कोई बड़ा वरणीय या अनुकरणीय गुण नहीं बताते। ये गणपति, शिव, शारिका, राज्ञा, लक्ष्मी का नाम तो लेते हैं, उनकी स्तुति भी करते हैं पर वस्तुतः ये सब केवल नाम हैं। प्रभु के नाम। "आदि शक्ति" के नाम। संसार के "नियामक" के नाम। नामों के अलावा ये कुछ भी हों जैसे देवों के रंजक या राक्षसों के भंजक के रूप में—वे सब आज के कवि के लिए केवल कहानियां हैं। आज का लीला–कवि ऐसी कहानियों का बहुत कम जिक्र करता है। जब करता है तो काव्य–प्रथा पालन के लिए या परम्परा निर्वाह के लिए। वह मानता है कि इन कहानियों को रूपक के रूप में लिया जा सकता है, तब शायद इनका कुछ अर्थ हो।

गणेश, शंकर, दुर्गा आदि देवी देवताओं का पूरा संदर्भ पुराणाधारित है, जबकि राम और कृष्ण केवल पुराण के सन्दर्भों तक सीमित नहीं। ये सबके काव्य का विषय बने और मानवीकृत हो गए। राम और कृष्ण के जीवन चरित ज्यादा विश्वसनीय हो सकते थे, क्योंकि उनमें ऐतिहासिकता की बड़ी गुंजाइश है। आज का कवि उन को अवतारी पुरुष मानता है, और उनको परमईश्वरत्व–सम्पन्न रूप में देखता है। उनके जीवन चरित के विवरण कवि को ज्यादा आकृष्ट नहीं करते।

एक प्रश्न हमने आरम्भ में उठाया था कि ज्ञान विज्ञान के आधुनिक प्रसार–प्रभाव–काल में कश्मीरी लीला कवियों को क्योंकर ईश्वरत्व का बखान आकृष्ट करता है और यह कि क्या उन्हें हम उसी तरह "सगुण" कवि कहें जिस तरह मध्यकाल के रामभक्त या कृष्णभक्त कवियों को कहा जाता है। इस प्रश्न का किंचित उत्तर अब हम देने की स्थिति में हैं। आज का कवि आधुनिक बौद्धिक उन्नति को भी स्वीकारता है, और मनुष्य की वर्तमान निरीहता के लिए आव्याख्येय मानव जन्म की त्रासदी को भी ज़िम्मेवार समझता है। अतएव वह किसी अनाम असीम सर्वव्यापक सत्ता की उपस्थिति के आगे ससंभ्रम भी खड़ा हो जाता है। परम्परा से जो नाम उसको मिले हैं, वे पुराण द्वारा समर्थित हों या काव्य द्वारा, कथा द्वारा या कल्पना द्वारा, वे सब उसके लिए उसी सर्वव्यापक सत्ता का प्रतिरूप हैं। वे अनाम हैं और निर्गुण। इसलिए आज की सगुण दिखने वाली कश्मीरी लीला कविता मूलतः ज्यादा निर्गुण है। "निर्गुण" और "सगुण" पारम्परिक पारिभाषिक शब्द हैं। समकालीन लीला कविता को केवल "निर्गुण" कविता

कहना भी शायद पर्याप्त नहीं। इसके लिए शायद हमें कोई नया नाम गढ़ना पड़े।

कश्मीरी में पारम्परिक और ठेठ निर्गुण भक्ति कविता ललेश्वरी (14वीं शती) और रूपाभवानी (17वीं शती) को छोड़कर किसी ने नहीं की। लगता है कि निर्गुण अरूप ईश्वर को अलभ्य पाकर प्राचीन कश्मीरी कवियों ने उसे अपनी सामूहिक और व्यक्तिगत दुखद जिन्दगी के मसले हल करने योग्य नहीं समझा और इसलिए उसके सगुण रूप को आराधा। सगुण प्रभु के कारनामे पुराणों में दर्ज थे। वे इन्हें निर्मम लुटेरों—शासकों, या पठान जालिमों से बचाने का वचन देते नजर आए। चौदहवीं से बीसवीं सदी के आरम्भ तक कश्मीर का राजनीतिक इतिहास कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर धर्मांध—अतिचार का इतिहास है जिसके फलस्वरूप व्यापक धर्म—परिवर्तन हुआ। उधर तुलसी और सूर की कविता की लोकप्रियता कश्मीर आने वाले तीर्थयात्रियों तथा व्यापारियों द्वारा यहां भी पहुंच चुकी थी। लल ने एक दो स्थानों पर अपने प्रिय प्रभु को 'श्यामगला' कहा था। एक स्थान पर ''केशव'', "जिन" या "कमलजनाथ" भी (यद्यपि शिव उसका आराध्य है और शिव, पार्वती—प्रिय या गणेश—पिता या कैलाशवासी या रुद्रसेनानी आदि कुछ नहीं है। लल का शिव कबीर के राम जैसा ही सर्वगुणातीत नाम मात्र है)। हम यह अनुमान भी कर सकते हैं कि लल का ही ''केशव'' और ''कमलजनाथ'' अठारहवीं उन्नीसवीं शती की लीला कविता का उत्स बना और यों भक्ति ने ज्यादा पार्थिव, सांसारिक तथा व्यवहारी सगुण रूप धारण किया। परंतु आज के लीला कवियों ने भक्ति की धारणा को अर्धदार्शनिक या रूपहीन रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि यही समय के अनुकूल है। हम यह मान सकते हैं कि आज का भक्त कवि अपने तमाम समकालीन प्रभावों को स्वीकार करते हुए मूल भक्ति के समर्पण भाव, सर्वसमभाव, मानव नियति के व्याख्याताभाव आदि का संरक्षण करता है। फिर यह भी सच है कि किसी भी भाषा की किसी भी प्रवृत्ति का कवि अपनी भाषा, संस्कृति तथा काल्य प्रवृत्ति की विरासत को ही अपनाता है और उसे संवर्धित करता है। कश्मीरी लीला कवि ने भी यही किया है। वह लल, रूपा, प्रकाशराम, परमानन्द, कृष्ण जू, ज़िन्दा कौल को साथ लिए चलता है। उसका अपना गलियारा कितना भी भिन्न हो, पर राजमार्ग वही है जो छः सौ वर्ष से चला आ रहा है।

आज कश्मीर—भूमि से उखड़ा कवि, कश्मीरी संस्कृति को तार—तार होते देख रहा है। वह इस्लामी कट्टरवादिता की लहर में ढहते हुए अपने भावनात्मक अस्तित्व को बचाना भी चाहता है। एक सहारा उसके पास है – ''लीला'' कविता का। यह सहारा एकांतिक है, और सांझी साहित्यिक प्रवृत्तियों से अलग है, विशिष्ट है, अनन्य है। भारतीय धर्म के सर्वव्यापक समुद्र में उसके अपने स्थानीय संस्करण की तरह—अपने विशिष्ट द्वीप की तरह। इस द्वीप पर उसे अपनी अस्मिता की रक्षा की संभावना दिखती है। उसका आपा सतीसर के किनारों के वासी ऋषियों की संतान से जुड़ता है क्योंकि वे महानुभाव उसके पूर्वज थे। वह कश्मीर से अक्षुण्ण सम्बन्ध बनाए रखने के सपने देखता है, उस कश्मीर से, जो उससे छिन गया पर जो उसका आद्यबिम्ब है, आद्यरूप है।

कश्मीरी कहानी : एक विहंगम दृष्टि

कश्मीरी साहित्य में कहानी बहुत कम आयु की विधा है। अन्य भारतीय भाषाओं में जहां अंग्रेज़ी तथा युरोपी साहित्य से संपर्क के फलस्वरूप बीसवीं सदी के आरंभ के आस पास कहानी का आरंभ हुआ, वहां कश्मीरी में इस विधा की शुरुआत स्वतंत्रता के पश्चात, लेखकों के नवजागरण के कारण हुई। अंग्रेज़ी कहानीकारों डिकेंस, थैकरे, स्कॉट, ओ हैनरी, तथा अंग्रेज़ी के माध्यम से अन्य युरोपी कहानीकारों मापासां, टॉलस्टाय, गोर्की से यहां के शिक्षित वर्ग का परिचय बीसवीं सदी के चौथे पांचवे दशक से था, क्योंकि ये लेखक पाठ्यपुस्तकों में आ गए थे। पर गद्य, वस्तुतः कश्मीरी कथा गद्य की कोई परंपरा शुरू नहीं हो सकी थी। गद्य केवल कुछ पत्र—पत्रिकाओं, कुछ गैर साहित्यिक उद्देश्यों वाले उपक्रमों (जैसे धार्मिक प्रचार के लिए अनुवादों तथा कश्मीरी माध्यम वाले इतिहास भूगोल या गणित की प्राथमिक पाठ्यपुस्तकों) में प्रयुक्त होने लगा था। कुछ लोक—कथाओं का पुनर्कथन भी गद्य मे हुआ था। पाकिस्तानी आक्रमण (1946-47) के बाद साहित्यिक नेतृत्व प्रगतिवादी लेखक संघ के हाथ आ गया और "कल्चरल कांग्रेस" ने चित्र, कला, संगीत, नाटक के अतिरिक्त साहित्य रचना को भी (भले ही अपने मतलब के लिए) प्रोत्साहन दिया। "क्वंग पोश" (केसर के फूल) इस संस्था की मुख—पत्रिका के रूप में प्रकाशित होने लगी। 1950 के आरंभ में कल्चरल कांग्रेस की एक साहित्यिक गोष्ठी में उर्दू कहानीकार सोमनाथ ज़ुत्शी ने अपनी कश्मीरी कहानी "जब उजाला हुआ" पढ़ी, जिसने कश्मीरी में कहानी लेखन के इतिहास की नींव डाली। "क्वंग पोश" के फरवरी 1950 के अंक में ज़ुत्शी की इस कहानी के साथ ही कवि दीनानाथ "नादिम" की पहली कहानी "जवाबी कार्ड" प्रकाशित हुई। कुछ समय के बाद ज़ुत्शी और नादिम के साथ ही कश्मीर के कुछ अन्य प्रगतिवादी (उर्दू) लेखकों ने कश्मीरी में कहानियाँ लिखीं। इनमें नूर मुहम्मद रोशन और अज़ीज़ हारून के नाम उल्लेखनीय हैं।

विषय तथा वस्तु के चुनाव की दृष्टि से आरंभिक कश्मीरी कहानी, कश्मीर में हाल में प्राप्त स्वशासन को समाजवादी क्रांति के रूप में व्याख्यायित करने को प्रतिबद्ध थी, इसलिए इसमें जागीरदार और ज़मींदार के शोषण तथा किसान और मज़दूर की निर्धनता, लाचारी तथा अशिक्षा का वर्णन होता था, और शोषित मनुष्य के मन में बेचैनी तथा समाज को बदल कर समता स्थापित करने की ललक भी ज़रूर चित्रित होती थी। "जब उजाला हुआ" में आज़ादी के पहले सरकारी समारोह की दीपावली के संदर्भ में एक गरीब मज़दूर तथा उसके धनी व्यापारी मालिक की वास्तविकता का मुकाबिला मुख्य कथ्य बनकर उभरा। यह मुकाबिला वस्तुतः स्थिति में द्वंद्वात्मकता की खोज पहचान तथा उसे हल करने के प्रति कहानीकार की उत्सुकता का द्योतक था। विषय, वस्तु तथा दृष्टिकोण का ऐसा ही दुहराव नादिम की "गिरो री बर्फ गिरो","चित्ती", रोशन की "अंधियारी" और हारून की "चाँद" में भी मिलता है। चरित्रों के प्राकृतिक विकास के बदले उनपर विचार आरोपित हुआ करते थे, अतः इस प्रकार की कहानी का विकास ज़्यादा नहीं हुआ। पर इसमें कश्मीरी कहानीकारों को साहित्य सर्जना के क्षेत्र में सम्मानजनक स्थान मिला और कहानी की विधा गंभीर संप्रेषण का वाहन बन गई।

सन् 1955 के बाद कश्मीरी कहानी में कश्मीरी स्वभाव चरित्र तथा वस्तु स्थिति का रंग उभरने लगा। अख्तर मुहीउद्दीन के प्रथम कहानी संकलन "सात शिखर", जो कश्मीरी कहानी मात्र का पहला संग्रह था, में संकलित "दांता किटकिट" और "रेशमी सलवार" जैसी कहानियों में कश्मीर का सहानुभूतिपूर्ण चरित्रांकन एक नवीन घटना थी। ये कहानियाँ कहानी कला तथा चरित्रण की दृष्टि से अब तक उल्लेखनीय और अप्रतिम बनी हुई हैं। अख्तर के समकालीन कहानीकारों में अमीन कामिल (मुर्गों की लड़ाई, कफ़न चोर) स्व० अली मुहम्मद लोन (सींकिया फर्ज़ी) स्व० उमेश कौल (आधी बात, दिल) सूफी गुलाम मुहम्मद (कोयलों के चोर, मालादादी) की कहानियों में कश्मीरी विषय–वस्तु तथा चरित्र की विलक्षणता के चित्रण और पूर्ववर्ती (अर्थात 19 वीं– 20 वीं शती के) पश्चिमी कहानीकारों की कला दोनों के प्रति लेखकों की उत्सुकता और अभिवृत्ति दिखई दंती है। "कफन चोर" में चोर की पहचान पड़ोसी गांव के एक व्यक्ति के रूप में, उसकी मृत्यु के समय होती है। पर फिर उसका कोई रिश्तेदार (शायद लडका) उस के भी शव का कफ़न चुराकर, पिता के अपराध की गंभीरता को कम कर देता है। सहज विश्वासी ग्रामीणों की रीतिबद्ध ज़िंदगी की यह कहानी कश्मीर की उस सरल मासूमियत का चित्र प्रस्तुत करती है जो पचास साठ वर्ष पूर्व तक यहां के जनसाधारण में सहज सुलभ थी। "कोयला चोर" नानवाई के तनूर पर काम करने वाले मज़दूरों के अंतःकरण के संघर्ष की कथा है और "सींकिया फर्ज़ी" तथा "मालादादी" उस समय के अपेक्षाकृत निष्कपट वातावरण में स्त्री–छाबड़ी–फरोशों की विचित्र समस्याओं की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में विषय वस्तु, चरित्र चित्रण, संघर्ष तथा उपसंहार वाले कथातत्त्वों का विधिवत निर्वाह किया गया है पर ज़ोर एक केंद्रीय चरित्र पर है। मापासाँ और ओ॰ हेनरी की कहानी कला का सबसे अधिक प्रभाव इस शती के छठे दशक की कश्मीरी कहानी पर दिखता है। टॉलस्टॉय तथा गोर्की के विवरणप्रधान यथार्थवाद को कश्मीरी कहानी ने बाद में अपनाया तथा व्यवहार में लाया। अभी तक तो कहानीकार के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण था कहानी को कश्मीरी पहचान प्रदान करना। इस उद्देश्य के लिए उसने शुदध कश्मीरी जीवनचित्रों को लिया और उन्हें यथार्थवाद

की अपेक्षा भावुक संसक्ति से पेश किया। इस प्रसंग में अवतार कृष्ण रहबर, गुलामनबी बाबा और ताजबेगम रेंजू की कहानियाँ द्रष्टव्य हैं। हालांकि रहबर में ("तबर्रुक" कहानी संग्रह में) एक अलग विशेषता बनी रही। उनकी कहानियों में चरित्र के संपूर्ण विस्तार की चेतना हावी रही है जिससे स्थिति की विचित्रता का महत्त्व कम हो गया है। यह उनकी शक्ति है, जो उन्हें आगे तक कहानी लेखन की प्रेरणा देती रही, जबकि अन्य दो उपर्युक्त लेखक शीघ्र ही चुक गए।

उपर्युक्त कहानीकारों के शीघ्र बाद कश्मीरी में कुछ महत्त्वपूर्ण कहानीकार उभरे, जिन्होंने कुछ स्तरीय कहानियाँ दीं। इनमें बंसी निर्दोष, हृदयकौल भारती, शंकर रैना, अब्बास ताबिश, दीपक कौल प्रमुख हैं। निर्दोष के तीन संकलनों "आदमी यों ही बदनाम है", "भंवर" तथा "मैं बाला मर जाऊँ" में उनकी वर्णन प्रधान कथावाचक शैली रेखांकित हुई है, और घटना की विचित्रता तथा उसमें अंत पर आने वाले अप्रत्याशित मोड़ उनकी कहानी की विशेषता बन गए। जीवन के छोटे बड़े प्रसंगों, चरित्रों, छोटी बड़ी असफलताओं का विवरणात्मक वर्णन करने में वे सिद्धहस्त हैं। उन्होंने मध्यवर्गीय पारिवारिक स्थितियां लीं और उनमें पल रहे स्वप्नों आशाओं निराशाओं का सशक्त चित्रण किया। उनके चरित्रण में कोई संकुलता, कोई उलझन नहीं बल्कि वे तो संभव असंभव स्वप्नस्थिति या घटनाओं की रहस्यात्मकता को भी कथानक के विकास–तंत्र का भाग बनाते हैं। इस प्रसंग में "मेरा मरना", "मृत्यु", "एक अनुभूति", "बोला मैं मर जाऊँ", "डर" जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। हृदय कौल भारती ने इसी ज़माने में "तपेदिक", तथा "शिकस्त" कहानियाँ लिखकर लाक्षणिक भाषा प्रयोग की संभावनाओं की खोज की। प्रयोगशीलता के प्रति भारती की अभिवृत्ति बनी ही रही और उन्होंने वस्तुचयन तथा कला के क्षेत्र में जो प्रयोग किए उससे आठवें और नवें दशक के कई कहानीकार प्रभावित हुए। उनकी कहानियों में स्थिति के प्रति अतिसंवेदनशीलता, भाषा तथा शैली के नवीन प्रयोग की प्रेरणा बन जाती है। समकालीन आदमी के अकेलेपन, और संत्रास की भावना को वे अपनी बाद की (नवें दशक की) कहानियों में वस्तुतचयन का आधार बनाते हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण कहानियों में "आबनूस की रूलर...." और "सहजात" हैं, जिनमें मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न को उसकी उबड़ खाबड़ परिस्थिति के प्रसंग में रखकर समझने की कोशिश की गई है। पर उनकी "अंधेरे के पुखराज के टुकड़े" "वक्त के चौखटे में", "मुझे पैंडोरा की प्रतीक्षा है" आदि कहानियों में प्रतीक तथा बिंब रचना के द्वारा ऐसे सत्यों की गंभीरता को संप्रेषित करने की सायास कोशिश मिलती है जो आयातित तथा आरोपित लगते हैं और जिनसे मूल कथातत्त्व विक्षत हो गया है। इसी क्रम में फ़ारूक मसऊदी की "कंपोज़िशन ज़ीरो" तथा "बहुत मामूली" अनीस हमदानी की "मेरे बगल में बैठा पराया", इकबाल फहीम की "शून्य" रतनलाल शांत की "छायातप" कहानियाँ हैं जो कहानी कहने से ज़्यादा प्रतीक स्थापित करने तथा अपने व्यक्तिगत अर्थों को बिंबों का जामा पहनाने वाली कहानियाँ हैं। इससे कश्मीरी कहानी के विकास में अवरोध पैदा हुआ। सौभाग्य से पिछले दो दशकों में कई सशक्त कहानियाँ लिखी गई जिन्होंने कश्मीरी कहानी को काफी आगे बढ़ाया।

आठवां नवां दशक कश्मीरी कहानी की वयस्कता का समय था। इस दौरान फारूक

मसऊदी, अमीन शाकिर, बशीर अख्तर, रत्नलाल मुजू, चमनलाल हक्खू और हरिकृष्ण कौल[1] (इसी खेवे में रतनलाल शांत की कहानियां भी प्रकाशित होने लगीं) जैसे कहानीकारों ने कश्मीरी कहानी की अब तक की परंपरा तथा भारतीय और पश्चिमी कहानी के कृतित्व दोनों का उपयोग करके कश्मीरी कहानी को काफी आगे बढ़ाया। इन कहानीकारों को हम आगे लेंगे।

यह स्मरण रखना होगा कि पुराने कहानीकारों में अख्तर मुहीउद्दीन तथा अली मुहम्मद लोन ने लेखन जारी रखा। लोन ने "मदन सर और मनुष्य" जैसी कहानियाँ लिखकर अपना ध्यान नाटक (खासकर रेडियो नाटक) की ओर कर लिया। अख्तर लगातार लिखते रहे हैं। छठे दशक में उनकी कहानियों "आदम अजबज़ात है", "महमदू वल्द लस्सू" ने कहानी कला पर उनके अधिकार तथा कश्मीरी चरित्र की विलक्षणता को समकालीन स्थिति में स्थापित करके न्यायसंगत बनाने की उनकी क्षमता की ओर संकेत किया। पर भावुकता से वे अभी छुटकारा पा नहीं सके थे। इसी रौ में जब उन्होंने कश्मीरी वैशिष्ट्य को इसकी रहस्यात्मकता के रूप में समझना चाहा और कथन के कुछ नए प्रयोग किए तो "अहं की चोट" "जादुई जाल", "कभी धूप कभी छाया", "तू ही तू है" जैसी अर्धदार्शनिक सी कहानियों ने जन्म लिया। ये अख्तर की कहानीकला का सर्वोत्तम उदाहरण नहीं, बल्कि उनकी अच्छी कहानियों में "सामर्थ्य" जैसी इधर की कुछ रचनाएं गिनी जा सकती हैं जो उनकी व्यक्तिगत एकांगिता के पूर्वग्रह से मुक्त हैं। अख्तर की कठिनाई यही है कि वे अपने साहित्यिक तथा सामाजिक पूर्वग्रहों को कहानी का केंद्रीय बिंदु या बिंब बनाकर उनकी न्यायसंगति सिद्ध करने लग जाते हैं। (जैसे "जल्ली के दांत")

सातवें आठवें और नवें दशक में जो कहानीकार निरंतर लिखते रहे और जिन्होंने कश्मीरी कहानी को उसके वर्तमान स्तर तक उठाया उनमें हरिकृष्ण कौल (धूप, कल, श्मशान वैराग्य) फारूक मसऊदी (अलफतह, कांहेकाफ पर जिन) बशीर अख्तर (जीभ/भाषा की कहानी, विकास) चमन लाल हक्खू (जंग) अमीन शाकिर और रत्नलाल मुजू उल्लेखनीय हैं। फारूक प्रयोग तथा तकनीकी विविधता पर ज़ोर देते रहे, जिससे लगता है कि उनका प्रतिभाकोष जल्दी ही छीज गया। उनकी कहानियों के केंद्र में कोई बड़ा सत्य कोई गहरी बात लगती है पर नवीनता लाने के आग्रह से वह बात गौण हो जाती है। बशीर अख्तर लोककथा की शैली का उपयोग करके जीवन की विषमताओं का चित्रण करते हैं। उनकी कहानी का बाह्य और भीतर (जैसा कि इस शैली की कहानी में होता है) एक दूसरे से संघर्षरत नहीं लगता। परिणामतः कहानी किसी नवीन सत्य का उद्घाटन करने में सदा सफल नहीं रहती। हरिकृष्ण कौल ने यथार्थवादी कथात्मकता का रचनात्मक उपयोग करके समकालीन समाज की विषमताओं तथा विरोधाभास को उजागर किया है (जैसे धूप, राग वैराग) पर जब वास्तविकता का दबाव हो तो उसकी कहानी का बाहरी रूपाकार बदल कर उसे अवास्तविकताओं का सा, स्वप्न या फंतासी का रूप देता है। जैसे "एक नग्न कथा" में प्रोफेसर पैंट पहनना भूल जाता है और कालेज में व्याख्यान देने लग जाता है, "कल" में दो मंद बुद्धि लड़कों के लिए समय जैसे रुक जाता है, जबकि शेष दुनिया आगे निकल जाती है। "श्मशान वैराग्य" में अरथी लिए लड़का रास्ते में पान की दुकान के सामने क्रिकेट की कमेंट्री सुनने रुक जाता

है। हल्के व्यंग्य तथा हास्य से रेखांकित कौल की कहानियां कश्मीर के आतंकवाद पूर्व (पूर्व–1990) जीवन में पाई जाने वाली असंगतियों का अप्रतिम चित्र उकेरती हैं। इधर की कुछ कहानियों जैसे "इस राजधानी में" में वे हमारी जानी पहचानी स्थितियों के बीच मौजूद विषम विदूप को प्रस्तुत करते हैं जो सामयिक सरोकारों को कथाबद्ध करने की उनकी क्षमता का परिचायक है। उनके तीन कथा संग्रह "पर्बत मेरे पीछे भागे" "अभी रात बाकी है" तथा "इस राजधानी में" प्रकाशित हुए हैं। रतनलाल शांत की कहानियों में "घटना से ज़्यादा घट्टना के अर्थ का महत्व"[1] होता है। उन में "जिस व्यक्ति का बिंब उभरता है, वह प्रायः लेखक के "मैं" का प्रतिरूप होता है।" "बरौनियों पर पहाड़" कथा संग्रह के बाद लिखी गई शांत की कहानियां शिल्प और संरचना के स्तर पर किसी खास बदलाव की सूचना नहीं देती, पर समकालीन ज़िंदगी के नये–नये पहलुओं को उजागर करने का उनका प्रयत्न उन्हें विशिष्टता देता है।"[2] उनकी कहानियों में "बाधा", "पहला सबक", "तिकोना", "रिपोर्ट मेरी जेब में है", "भूचाल", "तमाशा" चर्चित हुईं हैं।

कश्मीरी कहानी, समकालीन कश्मीरी कविता की तरह मानव अस्तित्व की गरिमा के आधारभूत प्रश्नों को ले रही है, इसलिए उसमें सीधे कथन के स्थान पर प्रतीक की स्थापना या बिंब रचना का माध्यम अपनाया जाता है। कहानी में भी ऐसे आनुभविक या अनुभूति के ऐकांतिक–स्थितिपरक प्रश्न लिए जाते हैं पर उन्हें घटना या प्रकथन (घटना केवल मन की हो या सोच की) के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। सार्त्र, कामू, ज्वाइस, बैलो आदि पश्चिमी कथाकारों ने कथात्मकता का मौलिक ढांचा बनाए रखा। बहुत हद तक ऐसा उर्दू कथाकारों सुरेंद्रपाल तथा गयास अहमद गद्दी ने भी किया। पर उर्दू के कुछ कथाकारों का मनोवैज्ञानिक अथवा राजनैतिक नियम/सिद्धांत स्थापित या विस्थापित करने का मंतव्य कहानी को मशीनी विवरणों की संरचना भर बना छोड़ता है। दुर्भाग्य से कश्मीरी कहानीकारों (जिनमें अख्तर जैसे अनुभवी तथा समर्थ लेखक भी हैं, इकबाल फ़हीम, शमसुद्दीन शमीम, बशीर अतहर, अनीस हमदानी जैसे कुछ नौजवान कहानीकार भी हैं) पर इसका प्रभाव कुछ ज्यादा ही है। इधर गुलशन मजीद (दिन : एक सड़ा नाशपाती) मजरूह रशीद, अमर मालमोही (पगली दादी) बशीर अख्तर तथा रत्नलाल जौहर कहानीपन की रक्षा करते हुए उसमें नए अर्थ भरने के सफल प्रयास कर रहे हैं जो कश्मीरी में गद्यविरोधी परिस्थिति (केवल तीन चार अनियमित पत्रिकाएँ निकलती हैं तथा प्रकाशक कहीं नहीं है) के बावजूद कहानी को जीवित रखने की दिशा में अच्छा क़दम माना जा सकता है।

●

1- 2. कश्मीरी साहित्य का इतिहास : शशि शेखर, पृ. 329

गजल

अभी सांस लेते रहना है
वक्त कि कैसे भी गुज़ारना
भले छन्नियों टोकरियों में पानी भरना।
आओ रे हम दोज़ख की
इन लपटों को भी आजमाएं
हीरे को पिघलाना है जी विगलित करना।
जाने कौन सुबह तक बचता है
हम भी देखेंगे
अभी रात बाकी है इंतज़ार बस करना।

—दीनानाथ नादिम

चोर

धूप के छींटों के, वसन्त के
और शरद के मेरे सारे रंग
घाम की रुत में उछल कूद बेरोक
(शीत में) बर्फ के आने की शर्तें
हंसती मेरी हर्षित उमंग
बंटता मेरा हर ओर प्यार
सब कुछ झाड़ चुरा करके ले गया चोर
अब क्या मेरे पास बचा है
टूटी एक कांगड़ी
जिसमें बर्फ की सिल।

—नादिम

●

हवा

वे सब युद्ध अधूरे छोड़कर
सीमा सीमा पर टूटे फूटे सिर
तकिए पर मैं ने जमा किए और देखा
दिशाएं धूल सने कांधे झाड़ रही हैं
घड़ियों की टिक टिक वक्षस्थल में टोह रही
कुछ उतर रही
है पाताल का सांप चाट रहा आकाश
बूढे कुत्ते की आंखो में मासूम नरगिस खिल रही है।

—रहमान राही

हवा वसंती बेकल बिफरी बच्ची है
खुश्बू दीदी के पीछे तो नहीं गई?

*

ओस समेटी और राह के पत्थर को
भर आंजुरी पिलाया, वो ही आया याद।

—नादिम

वितस्ता

सिर ऊंचा कर सारे पर्वत घेरें चारों ओर
इस ऋषिबाड़ी की रखवाली करे वितस्ता
ललवाखों से नुंद—श्रुक मिलें
मनि से जैसे कंचन
हिंदु मुसलमान गले मिल रहे
प्यार बधांता बंधन
है सहयोग बनाए रखना
प्यार पुराना ज़ोर
इस ऋषिबाड़ी की रखवाली करे वितस्ता

—नादिम

होता रहा सुबह का भ्रम हम को अब तक
अनायास दिन ढले पूर्व ही शाम हुई।

*

सिर्फ एक ही जाम पिया सुकरात ने
तब से हम ने पूरा, डल ही गटक लिया।

*

एक पत्ता पेड़ की डाली से कट गया
चकराता घूमता ज़मीन पर आ गिरा
दूब ने कहा यह मेरा ही मीत है
कुठांव लटक रहा था
सपाट पर आ बैठा।

—नादिम
(1916-1988)

कश्मीरी कहानी की भाषा

(साहित्य शिक्षण और भाषा शिक्षण के संदर्भ के साथ)

साहित्य पढ़ाने के कई उद्देश्यों में एक यह भी है कि विद्यार्थी की मनोभूमि को ज्यादा उर्वर बनाया जाए, जिससे उसकी भावग्रहण शक्ति तथा संवेदनशीलता में वृद्धि हो और उसकी कल्पना ज्यादा परिष्कृत होकर स्थितियों के सत्य में पैठने में समर्थ हो। यह उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है जब साहित्य का वाहन अर्थात भाषा, सही, सटीक और भाववहन करने को सक्षम हो। दूसरे शब्दों में, जब रचनाकार भाषा का साभिप्राय अर्थात कलात्मक प्रयोग कर सकें। कला, रचना के माध्यम के प्रयोग में है, इसलिए माध्यम से स्वतंत्र नहीं। वह भाषा के सहारे साहित्य में, रंगों रेखाओं के सहारे चित्रों में और पत्थर–मिट्टी–लकड़ी जैसी वस्तुओं के सहारे मूर्ति में ज़ाहिर होती है। शब्द को भाव का योग्य वाहन बनाने से साहित्य सृजन संपूर्ण होता है और रसनिष्पत्ति होती है। लगता है कि भरत भाषा के सचेत और कलात्मक प्रयोग के प्रति काफी आश्वस्त थे इसलिए उन्होंने साहित्य के शरीर की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना साहित्य की आत्मा की ओर। इसीलिए उन्होंने साहित्य को कलाओं के अंतर्गत नहीं गिना। वरना सत्य तो यह है कि साहित्यिक प्रक्रिया कितनी भी नैसर्गिक हो, भाषा के कलात्मक और साभिप्राय प्रयोग से ही पूर्ण होती है। वस्तुतः भाषा–सचेत साभिप्रायता के कारण साहित्य को कलाओं में गिना जाता है। यह भी सच है कि भाषा मूल अभिप्राय का अनुसरण करती है और उस से रूपायित होती है। पढ़ाते समय हमें भाषा से आरंभ करना चाहिए। जब हम अभिप्राय से शुरू करते हैं तो रचना की भाषा के अपार्याप्त आत्मसातीकरण के कारण संप्रेषणीयता बाधित होती है। परिणामतः साहित्य की आत्मा (भावना या रस या संप्रेषित अनुभूति) शिक्षार्थी के लिए गौण हो जाती है। यह भी स्मरण रखना होगा कि केवल भाषा के उपयोगी (या कारगर) ज्ञान से साहित्य का सही पाठन पठन नहीं हो सकता। शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच वार्तालाप की

कामचलाऊ भाषा पहले से मौजूद रहती है। उसके सहारे पाठक को साहित्यिक भाषा की संरचना से अवगत कराया जा सकता हे। (यह संरचना मूलतः रचना के विषय, वस्तु, कथ्य या उद्देश्य से निर्देशित होती है) उसके बाद ही रचना में प्रयुक्त भाषा की विशिष्टताओं या कुशलताओं से उसे परिचित कराके साहित्य की वस्तु, विषय, कथ्य, उद्देश्य आदि के प्रति सचेत किया जा सकता है। इस तरह साहित्य के आस्वादन की प्रक्रिया पूर्ण हो सकती है। ऊपर जिस कारगर ज्ञान का उल्लेख हुआ, उसका आशय यह है कि किसी भी भाषा में वस्तुओं तथा उनके नामों के बीच पहला सरलरेखीय (लीनियर) संबंध होता है। इस संबंध से हम बचपन से ही परिचित होने लगते हैं। शिक्षण के समय इस संबंध को पाठक के मन में उत्प्रेरित कराया जाता है और क्रम-से भाषा में मौजूद दूसरे वर्तुल (या संकुल) संबंधों की चेतना जगायी जाती है। यानी भाषा के कल्पनाधारित आलंकारिक प्रयोग का बोध समझाया जाता है। इससे आगे चलकर साहित्य शिक्षण तथा बेहतर आस्वादन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

कहानी में गद्य कुछ अधिक साभिप्रायता के साथ रचा गया होता है। ऐसा अन्य कथात्मक विधाओं (जैसे जीवनी, आत्मकथा) में भी होता है। इन में भाषा का वह रूप प्रयुक्त होता है जो प्रकृति से सामाजिक है और जो विभिन्न सामाजिक घटकों, समूहों या संस्थाओं में प्रचलित होता है। कहानी की भाषा से निकट का संपर्क स्थापित करने के लिए—समाज के इन घटकों या समूहों के संदर्भों में इसे रखकर ही चलना होगा। एक और बात है। अन्य कथात्मक विधाओं की अपेक्षा कहानी कुछ ज़्यादा व्यक्तिपरक होती है। अन्य कथात्मक विधाओं में भाषा लेखक के निजी मुहावरे की अपेक्षा सामाजिक प्रयोगों से ज्यादा जुड़ी रहती है। कहानी दरअसल एक साथ दोनों स्तरों पर रची जाती है। उसकी भाषा में लेखक के निजी मुहावरे का आग्रह होते हुए भी उसमें सामाजिकता का लिहाज़ रहता है। कविता में कवि के व्यक्तिगत मुहावरे को केवल उसके नितांत निजी परिप्रेक्ष्य में समझाा जा सकता है जबकि कहानी के प्रसंग़ में पाठक की स्थिति बेहतर होती है। उसे लेखक के नितांत निजी परिप्रेक्ष्य में जाना नहीं पड़ता। कहानी का व्यक्तिगत मुहावरा तथाकथित निर्व्यक्तिक प्रचलित मुहावरे से जुड़कर ही संप्रेष्य बनता है। इस दृष्टि से कहानी के कथ्य से तादात्म्य के लिए भाषा के व्यक्तिक प्रयोग तथा निर्व्यक्तिक व्यवहार्य अर्थ दोनों की समझ पैदा करना आवश्यक है। कहानी की भाषा के शिक्षण (जो प्रस्तुत लेख का ध्येय है) के लिए शिक्षक को उपर्युक्त दोनों रूपों या दोनों प्रयोगों की समझ पहले अपने आप में पैदा करनी होगी। ऐसा सदा और हर शिक्षक के लिए संभव नहीं हो सकता, यह मानना होगा। किसी हद तक ऐसा (शायद) तब संभव हो, जब शिक्षक स्वयं भी लेखक हो, एक कलासचेत कहानीकार हो। यदि साधारण शिक्षक में यह विशेषता न हो तो खतरा होता है कि पाठक (या शिक्षार्थी) में पहले से मौजूद ऐसी कोई योग्यता भोथरी ही न हो जाए।

कहानी का सबसे जीवंत पहलू है उसकी कथात्मकता। कथात्मकता का सदुपयोग करने से कहानी की संप्रेषणीयता बढ़ती है। कथात्मकता का दुरुपयोग भी होता है, जब वह लेखक के अनजाने में दास्तानवत हो जाती है। यों तो दास्तान की शैली सचेत रूप में इस्तेमाल की जा सकती है और ऐसा करते हुए लेखक की सर्जकता के नए आयाम खुलते

हैं। अनजाने में दास्तान में फिसलकर वह जाने वाला कहानीकार इस शैली की संभावनाओं को जानता नहीं अतः उनका लाभ उठाता नही। ऐसा करना भाषा का अनुपयोग करना है, उपयोग नहीं। सर्जक लेखक दास्तान की शैली में कहानी सुनाता भर नहीं। उसे सुनने वाला श्रोता भर नहीं होता, बल्कि सर्जनात्मकता के प्रयास में सम्मिलित सक्रिय सहृदय होता है। सर्जक लेखक कहानी सुनाते हुए उसे बुनता भी है। वह कथात्मकता का कलात्मक प्रयोग भी करता है। कहानी शिक्षण में यदि शिक्षार्थी को कथात्मकता के अलावा, कहानी की "बुनाई" अर्थात सृजनशील भाषा को ग्रहण करने के लिए भी तेयार किया जाए तो संप्रेषण पूर्ण हो जाएगा। भाषा के ऐसे शिक्षण से कहानी–बोध स्पष्टतर होगा। सृजनशील कथात्मकता का आधार है पारदर्शी भाषा। पारदर्शी भाषा बहरहाल अच्छी कहानी की पहली शर्त है। यदि भाषा 'ओपेक' है और कहानी पढ़ते या पढ़ाते हुए भाषा की व्याख्या करनी पड़े तो कहानी की कथात्मकता बाधित हो सकती है। संप्रेषण भी बाधित हो सकता है।

हिंदी के कथाकारों प्रेमचंद तथा यशपाल ने कथात्मकता का दो अलग तरीकों से प्रयोग किया है। दोनों की भाषा पारदर्शी है और संप्रेषण में बाधा पैदा नहीं करती। प्रेमचंद यशपाल की अपेक्षा शब्द चयन तथ भाषा की संरचना के प्रति ज़्यादा खुला रवैया रखते हैं। अर्थ दूध पर जमी मलाई की तरह स्पष्ट होता है और सामान्य प्रज्ञा से ग्रहण किया जा सकता है यशपाल की भाषा भी निर्बाध प्रवाह में बहती चलती है पर उनका अभिप्राय ऊपरी अर्थ के बावजूद या इस अर्थ के साथ–साथ अन्य प्रतीकार्थ या सांकेतिक अर्थ देना भी होता है इसलिए उनकी कथात्मकता कहानी कला या कहानी के "बुनाई तंत्र" को महसूस कराती चलती है। इससे कथात्मकता की सहजता बाधित होती हे। कहानी–शिक्षण के समय यदि कथात्मकता के इस बारीक अंतर को समझाया जाए तो संप्रेषण आसान हो सकता है।

कथात्मकता के रचनात्मक प्रयोग को यदि कश्मीरी कहानी के संदर्भ में समझना हो तो दो प्रतिनिधि कहानीकारों बंसी निर्दोष तथा हरिकृष्ण कौल को लिया जा सकता है। दोनों के बारे में आलोचकों की राय है कि उनका कथा–शिल्प 'पारंपरिक' है और कलागत प्रयोग की नव्यता से आतंकित नहीं होता। वस्तुतः दोनों की भाषा पारदर्शी है और कथ्य तक पहुंचाने में कोई बाधा खड़ी नहीं करती। परंतु दोनों के प्रयोग अलग हैं। निर्दोष की भाषा कृत्रिमता की सीमा तक सरल है और कभी–कभी दास्तानगोई का भ्रम पैदा करती है। पर वह दास्तानगोई के अचेत भाषा प्रयोग से ग्रस्त नहीं होती और इसलिए सहज सर्जनात्मकता लिए होती है। निर्दोष की तुलना में कौल भाषा के प्रति बहुत सचेत हैं। उनकी कहानी में ऊपरी सहजता के खोल के भीतर से सघन भीतरी अर्थों की परतें खुलती हैं। निर्दोष की कहानी आम तौर पर एक–परती होती है और उसका विकास रेखीय (लीनियर) होता है जबकि कौल की बहुपरती और वर्तुल। इस भिन्नता को रेखांकित करते हुए इन दो कहानीकारों की भाषा का अध्ययन नहीं किया गया है। इन्हें "पारंपरिक कथाशिल्पी" कह कर इति की जाती है।

कहानी पढ़ाते हुए हम भाषा के व्यापक, समूहानुमत या रूढ़ अर्थ का सहारा लेते हैं। इस तरीके से कहानी की भाषा में पाई जाने वाली रूढ़िमुक्तता से हमारा सामना नहीं भी हो

सकता है। वस्तुतः कहानी पढ़ाते हुए शिक्षक शिक्षार्थी के मन में पहले से मौजूद रूढ़भाषा का सहारा लेता है। पर पढ़ने वाले को भाषा के रूढ़ अर्थों से जितनी मुक्ति दिलाई जा सके, उतनी ही शिक्षण की सार्थकता है। भाषा को प्रयोजन से लैस कर देने से वह लेखक के मंतव्य के अनुसार एक पूर्व निर्धारित व्यवस्था में ढल जाती है। इस प्रयोजन तक पहुंचने से शिक्षार्थी में भाषाधिंग्रहण का संस्कार पैदा होता है। चमन लाल हक्खू की कहानी "जंग" का यह अंश इस दृष्टि से दृष्टव्य है – *

> "दिनभर बख्तावर कुर्सी पर बैठा रहा। न उसे कोई फाइल दी गई न कोई फाइल मांग ली गई। उसे लगा कि दफ़्तर को उसकी ज़रूरत नही। हर काम विधिवत होता रहा। उसका होना न होना एक जैसा था" (अनुवाद)

शिक्षार्थी को यह समझाना होगा कि यहां शब्दों का वही अर्थ नहीं जो रूढ़ि सम्मत हो, इसलिए उसे रूढ़ अर्थों के पार देखना होगा। "बैठा रहने" का अर्थ "चेतना हीनता" या "जड़ता" नहीं। "फाइल देना" या "मांगना" दफ्तर की मशीनवत् ज़िंदगी का नित्य कर्म है और यह न हो तो दफ्तर का कामकाज चलने की कोई संभावना नहीं। दफ्तर को उसकी "जरूरत" नहीं ऐसा सामान्यतः होता नहीं, वह नहीं तो कोई भी उसकी जगह कुर्सी पर बैठकर दफ्तर की व्यवस्था को इच्छा अनिच्छा से चालू रखेगा ही। होना, नहीं होना, जितने मामूली और अहानिकर शब्द लगते हैं, वस्तुतः नहीं हैं। ये कहानी को दूर तक ले जा सकते हैं और पाठक अपनी क्षमताओं के अनुसार कहानीकार के उद्देश्य को ग्रहण कर सकता है। यों साधारण सी लगने वाली कथात्मकता भी कभी–कभी भाषा को पारंपरिकता से उठा कर पारदेशी (एक्ज़ॉटिक) नवीनता तक ले जाती है।

कहानी–शिक्षण आमतौर पर दो ढंग से होता है। विश्लेषण से या संश्लेषण से। कहानी का एक पाठ पूरा करने के बाद विद्यार्थी को विश्लेषण के अभ्यास से गुज़ारा जाता हे। इस विधि से उसे कहानी की रचना या संरचना के प्रति सचेत किया जाता है। ऐसा करते हुए अक्सर यह होता है कि शिक्षक स्वयं जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह कहानी की भाषा का स्थान लेती है और एक और कहानी या कहें कि कहानी के कथानक का एक अनगढ़ विस्तार जन्म लेता है। कहानी का वर्णन वाला अंश ऐसे शिक्षक की पारंपरिक भाषा में एक अन्य तरह का वर्णन बन जाता है। वार्तालाप प्रत्यक्ष से परोक्ष बनकर उसी में समा जाते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन के नाम पर यह होता है कि घटना तथा चरित्र को नैतिक औचित्य अथवा सामाजिकता से जोड़ कर देखने की अभिवृत्ति पैदा करके समीक्षा की इति की जाती है। वह

---

* दफ्तर में भ्रष्टाचार के मामले की फाइल वाली अल्मारी हिलती लगने से क्लर्क बख्तावर बीमार हो गया। छः महीने बाद उसके प्रति सारे दफ्तर का रवैया बदल गया। उसे अन्य नाम से पुकारा जाने लगा। उसके किसी केस के उलझते चले जाने का विश्वास उस के मन में घना होता गया और वह अपने खिलाफ अनजाने केस की पैरवी करने एक अफसर से दूसरे के पास धकेला जाता रहा। दृश्य वही थे पर बदले दिखते गए। उलझन तथा अनिश्चय की भूलभुलैया में वह घूमता भटकता, अपने दफ्तर में पहुंचा तो उसे उसके केस के उलझाने सुलझाने में सहायक होने के वादे, छलावे मिलते रहे। अंत में उसे भी फाइल में बंद करके ट्रे में रख दिया गया।

भी स्थानापन्न भाषा (जो अध्यापक के अपने शब्द–भंडार से बनती है) में व्यक्त होती है और शिक्षार्थी को मूल कहानी की सायास बुनी हुई भाषा को समझने के अभ्यास से गुज़रने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती।

संश्लेषण की विधि से पढ़ाते हुए कुछ अध्यापक कहानी के पाठ के बाद उसे एक इकाई मानकर उसके द्वारा प्रतिपादित जीवनसंगत अर्थ की व्याख्या अपने विचारानुसार करते हैं। वे संकेतों, प्रतीकों अथवा ध्वनि की खोज करके कहानी को सतह पर दिखने वाले अर्थों से ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। इस विधि के प्रयोग के समय भाषा के रूढ़ अर्थ को उतार फेंकने की प्रक्रिया तेज़ हो जाती है और विद्यार्थी की संग्रहीत भाषा को धीरे–धीरे निरस्त किया जाता है। यदि कहानी घटना चा चरित्रप्रधान हो या पारंपरिक कथात्मक शैली में कही गई हो और प्रतीक लेखक का मंतव्य नहीं हो, तो जीवन के व्यापकतर संदर्भ में इसे बिठाना अनुपयुक्त नहीं। कहानी को एक इकाई मानकर परखने की स्थिति में उसकी भाषा को (यह निरी अभिधात्मक भी हो) जीवन के (अर्धदार्शनिक ?) अर्थ के समकक्ष ले जाने का प्रयत्न होता है। हम सुदर्शन, राधिकारमण प्रसाद सिंह, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक या उनके खेवे के किसी और यथार्थवादी कहानीकार की भाषा देखें तो स्थिति या चरित्र के वर्णन में उसकी अनगढ़ता स्पष्ट झलकती है। वार्तालाप में इस अनगढ़ता को और तीव्रता के साथ महसूस किया जा सकता है। फिर भी इस प्रकार की कहानियों की भाषा व्यावहारिक भाषा से दूर होती है क्योंकि यह अनगढ़ता न कोई प्रतिभा–प्रसूत अनगढ़ता है (जैसी प्रेमचंद में है) न कलाचेतना या सचेतशिल्प से आई है (जैसी "रेणु" में है) कहानी के सांमूहिक अर्थ को जब प्रतीक तक खींचा जाता है तो "ताई" केवल एक उपेक्षित सास न रहकर समाज के उपेक्षित और महत्त्वहीन वृद्ध–वर्ग की प्रतिनिधि हो जाती है और कहानी की सरल वाच्यार्थक भाषा परीक्षोपयोगी ससंदर्भ व्याख्या के लिए सामग्री बन जाती है। उसकी कलाहीन अनगढ़ता की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता तथा भाषा की असमर्थता से विद्यार्थी अपरिचित रह जाते हैं।

इस संदर्भ में हम एक यथार्थवादी कश्मीरी कहानी "इर्तिक़ा" (विकास) जिसे बशीर अख़तर ने लिखा है, ले सकते हैं और इसकी तुलना बंसी निर्दोष की "त्रेंयुम अरमान" (तीसरी अभिलाषा) से कर सकते हैं। इसी तरह प्रतीकवादी कहानियों में अख़्तर मुही–उद्–दीन की "चॅुय छुख चॅुय छुख" (तू ही तू है) तथा फ़ारूक़ मसऊदी की "कोहि काफस प्यठॅ परी जिन तॅु हीरो" (कोहे काफ पर परी जिन और हीरो) ले सकते हैं। यथार्थवादी कहानियों को विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों विधियों से पढ़ाने में शिक्षक फिर भी सरलता अनुभव करता है। (कुछ प्रतीकात्मक कहानियों को संश्लेषण की विधि से पढ़ाकर भी सदा मुक्ति नहीं पाई जा सकती) कई बार यथार्थ की भी कई परतें होती हैं और ये अयथार्थ तथा अतियथार्थ में खुलती हैं। ऐसे में पारंपरिक विश्लेषण–विधि बहुत दूर तक साथ नहीं दे सकती। मसलन "तीसरी अभिलाषा" में चमत्कारी साधु की भविष्य वाणी का संयोग ऐसी समस्या पैदा करता है कि भाषा सुपरिचित तथा रूढ़ होने के बावजूद अविश्वसनीय हो जाती है। साधु के वचन–प्रवचन, गृहस्थिन की प्रतिक्रिया, पुत्र का अविश्वास और अंत में संयोग का सत्य आदि से भाषा का सतही वाच्यार्थ झड़ जाता है। ऐसे में उसका साधारण विश्लेषण भी कठिन हो जाता है, बल्कि ऐसी कहानी

को रचना की गरिमा देने के लिए ज़बर्दस्ती उसका प्रतीकार्थ ढूँढ़ना पड़ता है। ऐसा करते हुए भाषा को उसके सतही रूप से अलग किया जाना ज़रूरी होता है।

"इर्तिक़ा"[1] में "नंगी" बात को ढाँकने के लिए रूपक की ज़रूरत पड़ती है, अन्यथा कहानी एक सपाट स्थिति का सपाट सा वर्णन मात्र है:–

> "और जब सभ्यता का विकास हुआ............."
>
> मास्टर खुद से कह रहा था। उस की आँखे जैसे पर्दे पर जम गई थीं। उसने जूता उतार के दोनों पैर सीट पर चढ़ा रखे थे। उसका सारा शरीर काँप रहा था, ठोड़ी सीने पर टिकी जैसे उसके साथ जुड़ गई थी और जांघों के बीच उसका दायां हाथ जैसे सिलाई–मशीन की सुई की तरह लगातार तेज़ी से ऊपर नीचे जा रहा था।

"शुमशान वाऽराग"[2] हरिकृष्ण कौल की पारंपरिक भाषा और यथार्थवादी मुहावरे में लिखी हुई कहानी है, पर शब्दप्रयोग तथा वाक्य योजना के प्रति सचेत लेखक वार्तालाप के सहारे यथार्थ स्थिति तथा चरित्रण की सीमाएँ लांघ जाता है। इससे स्थिति अतियथार्थ की सी हो जाती है, जिसकी "रिपोर्टिंग" यथार्थवादी भाषा में की गई हो। वार्तालाप की भाषा अत्यंत सामान्य और यथार्थवादी है, यद्‌यपि वार्तालाप का विषय एक असामान्य घटना और चरित्र है। "पेड्रो" की मां की अरथी ढोते हुए "टार्ज़न" पान की एक दुकान्न के सामने इसलिए रुक जाता है कि अपने प्रिय क्रिकेट बॉउलर के बारे में रेडियो की कमेंट्री सुने। थोड़ी देर बाद दूर निकले पेड्रो के पास जब पहुँच जाता है तो अनायास बोल उठता है, जिससे स्थिति की अयथार्थता सामान्य होकर केवल चरित्रगत विशेषता बन जाती है:–

> "तीन गिरे!" निकट आकर टार्ज़न चिल्लाया।
> "क्या तीन बार शव नीचे गिरा? त्राहि त्राहि!" पुरोहित चौंक पड़ा।
> "नहीं जी! मेरे फाइटर बॉउलर ने तीन विकेटें लीं।"
> "चुप बे।" सेठ गुस्से में अपने होंठ चबाने लगा।

दूसरी ओर प्रतीकवादी कहानियों में भाषा का व्यवहार बड़ा अप्रत्याशित तथा निरंतर नवीन होता नज़र आता है। इनमें गद्‌य की बारीकियाँ अन्य तरह की कहानियों की अपेक्षा

---

1. "इर्तिक़ा"(विकास): बच्चों को मनुष्य के विकास की कहानी समझाने के लिए मास्टर जी दो लड़कों को बनमानुस और नग्न वन सुंदरी के आदिम प्यार की अंग्रेज़ी फिल्म दिखाने ले गए। सिनेमा हाल में लड़के वन्य कामुकता के मजे लेते रहे और मास्टर जी कुर्सी में धंसे, हस्तमैथुन द्‌वारा अपनी उत्तेजना को शांत करते रहे।

2. श्मशान वैराग्य: तीन गरीब, बेसहारा पर मनमौजी लड़कों ;जिन्होंने लोकप्रिय सामयिक चुलबुले आकर्षक फिल्मी नाम अपना रखे हैं, में से एक की माँ की अरथी ढोता हुआ दूसरा रास्ते में क्रिकेट की कमेंट्री सुनने रुक जाता है। पर ऐसी अप्रत्याशित हरकतों के बावजूद उनके मन की कोमल मानव–सुलभ भावनाओं का अंत नहीं हो जाता। श्मशान में माँ की चिता के आगे रोते लड़के का दुख इस बात का प्रतीक है।

ज़्यादा प्रकट और घोषित होती हैं। शिल्प कहीं पर शिल्पकारिता या पच्चीकारी बन जाता है। उसमें आयास का तत्त्व ज़्यादा स्पष्ट रहता है। कहानीकार का बल उसके मंतव्य की विभिन्न अर्थछायाओं पर होता है जो विभिन्न अभिप्रेतों (मॉटिफ़्स) मिथकों, अर्थांतर आदि से संप्रेषित किया जाता है। इस संप्रेषण को सफल बनाने के लिए शब्द चयन तथा वाक्य विन्यास के निर्दिष्ट प्रयोग द्वारा भाषा का विशेषीकृत और रीतिकृत (स्टाइलाइज़्ड) प्रयोग होता है जिसके लिए शिक्षार्थी को मन तथा बुद्धि दोनों से पूरी तरह तैयार करना पड़ सकता है। भाषा के नए प्रयोगों को समझाने के लिए भाषा का व्यापकतर शिक्षण चाहिए जो केवल भाषा के व्याकरण या नियमावली पढ़ाने से पूर्ण नहीं हो सकता, बल्कि इस प्रकार की और कहानियों का पाठ कराने से तथा उनमें आए प्रतीक–रूपक–संकेतों की प्रणाली का पूरा अभ्यास डालने से हो सकता है।

अख़्तर की "तू ही तू है" का मुहावरा यद्यपि रतनलाल शांत की 'छायिगित्य्' (धूप–छांह) या इकबाल "फहीम" की 'कुन्य् ज़ाथ' (अकेला मैं) या फारूक मसऊदी की "कंपोज़ीशन ज़ीरो" का जैसा प्रभाववादी नहीं पर वह रूढ़ि को तोड़कर अर्थ की सामान्यता को जानबूझकर भंग करता है। कमरे में बैठा वक्ता बराबर वाले कमरे में किसी की भयद उपस्थिति की संभावना से आक्रांत है और अपनी समता "नमरूद" से करता है जिसने अपनी सत्ता को निर्बाध स्थापित करने की गर्ज़ से आसमान में तीर फेंका था। आसमान से खून की धार बही तो उसे संदेह ने घेरा कि यदि वहाँ उसकी समता करने वाला कुछ नहीं था तो खून किसका बहा? फिर नमरूद ख़ौफ से ग्रस्तता की स्थिति में खुद को आवाज़, सर्दी, गर्मी से सुरक्षित रखने के लिए मुहरबंद कब्र बनाकर उसमें उतरकर रहने लगता है। यह आशंका उसे कभी नहीं छोड़ती कि कोई चीज़ है जो उसके अस्तित्व के लिए खतरा बनी रहेगी। इस प्रतीक कथा की रचना करते हुए लेखक भाषा के अतिविशिष्ट हो जाने के प्रति बहुत चेतन है, और इसलिए पाठक के संकट को कम करने के लिए भाषा को अंत में सरल और व्याख्यात्मक बना देता है:

> एक बहुत बड़ा खेल तमाशा चल रहा है, दीवार के उस पार भी और इस पार भी। मैं युग–युग से साँप की तरह केंचुल बदलता रहा हूँ, फिर वही करता रहा हूँ जो करते पिछले जन्म में थक चुका होता हूँ..... हर जन्म में वही एक रंग पहचानता हूँ जो मेरी दृष्टि में सब रंगों का सिरताज रहा है – अंधेरा।

हृदय कौल भारती की "चक्रव्यूह"* में भी प्रतीक स्थापना के उद्देश्य से शब्द का अर्थविस्तार किया गया तथा स्थितियों और मानव संबंधों को नए अर्थ दिए गए हैं। या यों कहें

---

* चक्रव्यूह : दीवार पर वक्ता की तथा उसके अफ्रीकी साथी मुहम्मद की रैकेट एक ही फ्रेम में कसी लटक रही हैं। एक कैलेंडर में अभिमन्यु रथ का पहिया लिए चक्रव्यूह के बीच लड़ता हुआ चित्रित है। अभिमन्यु की ही तरह मुहम्मद, (भारत में वास्तुकला की शिक्षा प्राप्ति के लिए) संघर्ष करता रहा और वापिस अपने देश में नवनिर्माण तथा यश प्राप्ति के उसके स्वप्न वहां के सैनिक विद्रोह में टूटे। वक्ता भी इन दोनों की सी नियति से ग्रस्त हैं। कैलेंडर में जड़ीभूत संघर्ष के क्षण के बावजूद उसे अभिमन्यु तथा मुहम्मद का अंत मालूम है और वह चाहता है कि काश अंत से पहले का वह क्षण ऐसा ही जड़ बना रहे जिससे दुखद अंत टलता जाए।

कि स्थितियों को जो अर्थ लेखक देना चाहता है उससे भाषा को नए प्रयोगों से गुजारना ज़रूरी बन जाता है। दीवार पर लटकते हुए फ्रेमों में कसी टेनिस रैकेटें तथा चक्रव्यूह में पहिया लेकर लड़ते अभिमन्यु की तस्वीर में जड़ीभूत क्षण.... इन दो की समानता की कल्पना से प्रेरित वक्ता. मानव नियति की एक कहानी खोलता जाता है। इस कहानी में अभिमन्यु, नाइजीरिया–वासी मुहम्मद बिन अली बिन इसहाक तथा स्वयं वक्ता सामान्य जीवन की सामान्य सतह से ऊपर उठकर किन्हीं अन्य अर्थों की ओर संकेत करने लगते हैं। इस प्रक्रिया में भाषा भिन्न प्रकार के शब्द विन्यास तथा वाक्य रचना का सहारा लेती हुई पारंपरिक सीमाओं को लांघ जाती है :

> यह क्षण जड़ नहीं हो गया और न वह चाहता कि ऐसा हो जाए, क्योंकि ऐसा हो जाता तो यह क्षण लाश की तरह ठंडा पड़ जाता। अभिमन्यु इस बात के प्रति सचेत है कि उसकी पत्नी का पाँव भारी है और बात वहीं खत्म होने वाली नहीं। उसके बाद क्या होगा यह उसे खुद मालूम नहीं। उसका सत्य वह चक्रव्यूह है जिसमें वह हाथ पांव मार रहा था।

क्षण का जम जाना, लाश की तरह ठंडा पड़ जाना और अभिमन्यु का अपने अंत के ज्ञान के बावजूद संघर्ष जारी रखना, ये विचार संप्रेषित करना कहानीकार का मंतव्य बन जाता है, और यह प्रतीक–रचना के द्वारा ही संभव होता है।

कश्मीरी की कई प्रतीक–कथाओं में लेखक प्रतीक रचना के बाद प्रतीक की संप्रेषणीयता के बारे में संतुष्ट नहीं दिखता, इसलिए पाठक के लिए प्रतीक स्पष्ट करने लगता है। वह पाठक के सीमित ज्ञान तथा पारंपरिक भाषा संस्कारों के बारे में सावधान होकर ही प्रतीक की व्याख्या करने लगता है। यही अख्तर ने "तू ही तू है" कहानी में किया है और भारती "चक्रव्यूह" कहानी में यही करता लगता है ———

> अभिमन्यु के चेहरे पर उभरी व्याकुलता, यह चिंता कितनी यातनादायक है।... यह जड़ीभूत क्षण पिघलना चाहिए। ज़िंदगी की गर्मी इसमें फैल जानी चाहिए।... महाभारत का यह दिन मेरी दीवार पर पूर्ण होकर अब ख़त्म होना चाहिए।

प्रतीक द्वारा सामान्य अर्थ की प्रतीति में बाधा आ सकती है। पर कई बातें ऐसी होती हैं जो लेखक सीधे कहने में असमर्थ है या जिन्हें सीधे कहने से वह अपनी भाषा तथा कहानी रचना की प्रतिभा का पूर्ण प्रयोग नहीं कर सकता। उन्हें प्रतीक द्वारा ज़्यादा प्रभावशाली ढंग से कहा जा सकता है। फारूक मसऊदी की "कोहेकाफ पर परी जिन और हीरो" में प्रतीक का आयाम तब जुड़ता है जब एक ही कहानी के चौखटे मं पांच अंतर्कथाएं बुनी जाती हैं। (1) ज़िन परी का आशिक़ है और उसे पाना चाहता है। (2) कश्मीर आया हुआ पर्यटक क़त्ल कर दिया जाता है। (3) कहानी का वक्ता एक फिल्मी कथाकार है जो एक कामुक प्रोडयूसर डिस्ट्रिब्यूटर के निर्देशों पर चलने को मजबूर हो जाता है। (4) फिल्मी कथा का हीरो फांसी पर लटकता हुआ

भी अपनी प्रेमिका की छाती में दांत गड़ाने का अरमान पूरा करता है। (5) 1947 के पाकिस्तान–प्रायोजित कबाइली आक्रमण में 'शेरवानी' की निर्मम हत्या होती है। अंतर्कथाएं ऊपरी रूपाकार में भिन्न हैं और भाषा का अलग–अलग आवरण धारण किए हैं जो अपने अपने अंतर्वर्ती कथ्य के अनुकूल हैं, पर पांचों अंतर्कथाओं के भीतर एक ही मंतव्य की धारा बहती है। कुछ अंतर्कथाएं यथार्थवादी तो कुछ अतियथार्थवादी हैं, पर लेखक यथार्थवादी अंतर्कथा में भी भाषा की अभिधात्मकता का सचेत उल्लंघन करता है। अतियथार्थवादी अंतर्कथा में तो भाषा किसी प्रमेय की स्थिति का सर्जन करने के लिए आमूल ही बदल जाती है। :-

> पागलपन के इस सैलाब में लोगों के मन अभी भी अवसादग्रस्त थे और उन के दिमाग़ पर अभी भी धूल जमी थी। कोई यह नहीं समझ पा रहा था कि कौन क्या है। कौन लुटेरा है, कौन योद्धा, कौन विजेता, कौन आज़ादी का पैगंबर है और कौन शहीद है.....

शेरवानी के क़त्ल के संदर्भ में यह वर्णन एक यथार्थवादी स्थिति पेश करते हुए भी केवल यथार्थवादी नहीं रह जाता क्योंकि लेखक अपना कथ्य प्रश्नों की आड़ में छिपा लेता है। इसी प्रकार हीरो और जिन (खलनायक) के पारंपरिक टकराव को लेने वाली अंतर्कथा अतियथार्थवादी चित्र पेश करती है :

> कोहे काफ पर श्टापों (का खेल) खेलते हुए ''हीरो'' ने ''जिन'' की ओर पीठ फेर ली और आंख मूंद कर ठीकरा उछाल कर फेंक दिया और चिल्लाया—''आयम गोल?'' ''जिन'' ने देखा कि हीरो का पैर लकीर पर था, ''दोज़ख'' में भी और ''जन्नत'' में भी...

यहां ''श्टापो'' के खेल का क्रम और खेलने का ढंग समझने मात्र से कथ्य संप्रेषित नहीं हा सकता और न ही यह जान लेने भर से कि ''आयम गोल'' वस्तुतः अंग्रेजी शब्द ''आई ऐम गो'' का बिगड़ा रूप है जिसमें खिलाड़ी आंख मूंद के और ठीकरा फेंक के दूसरे से पूछता है कि ठीकरा ज़मीन पर खिंचे आठ घरों वाले चित्र के किसी घर में गिरा हो तो बता दे कि मैं आगे जाऊं, आगे बढ़ू या यहीं पर ''आउट'' मान लिया जाऊं। आठों घरों के निश्चित नाम हैं जिनमें दो ''जन्नत (स्वर्ग) और ''दोज़ख'' (नरक) के हैं। कहानी में हर शब्द के साथ और खेल के हर हल्के फुल्के उपक्रम के साथ नायक तथा खलनायक की नियति और भावी जीवन का सिलसिला जुड़ा है। प्रतीक पर आधारित कहानियों के तत्त्वों के भीतर पैठना, इसलिए, पहले स्वयं शिक्षक के लिए एक असाधारण अभ्यास हो सकता है। पर यह अभ्यास ज़रूरी हो जाता है, यदि भाषा के ऊपरी तथा सतही रूप से अवगत कराकर शिक्षार्थी को भी उसके भीतर पैठाना है।

●

समंदरों से उभरे तो रुद्राक्ष हमीं कहलाए
जिसके गले पड़े मगर उसको बदाल बन आए
बातों में हम तेज़, कर लिए नदी–घाट भी ठंडे
बैठे चुप्पी साध, आग के हम पहाड़ बन आए।
–राही

(नदी घाट= मिलन, वार्तालाप स्थल)

कोमल जितने थे गुलाब वे सोख लिए
सब धूप ने
बचे हुए कांटे अब रंगते मेरे लिए नाखून।

*

बोले नहीं अभी हम खून हमारा खौला
इस चुप्पी में मेरे लिए अब ये बयान हैं।

*

नहीं हिल रहा पर्दा आज किसी खिड़की पर
नहीं जल रहा दीया अब है बरामदे में
कौआ आज हवा से कहता पता कर ज़रा।

*

बिजली गिरी कि पेड़ बेद का नख से शिख तक लाल हुआ
ए बसंत ऋतु ! इस से बढ़ कर चमत्कार क्या कर लोगी ?

*

बुझे दिए हाथों के और मर गए कबूतर बातों के
झड़ी लगी काली बारिश की, गोसांई तू किधर चला ?
– राही (1925-)

चुभी कलेजे में मेरे तेरी यह बात
कभी हमारे हां से भी तो हो आना ।

सोचोगे तो मेरे ख्याल से सोचोगे
बोलोगे तो मेरे सपने बोलोगे।

*

क्या चिंता मेरा नकाब भी डालें फाड़
अपना आप स्वंय ही मै अब लगा छिपाने।

गरम गरम हाथों से चूमो नहीं बर्फ को
अपनी ही गरमाइश इसमें खो दोगे।
—–अमीन कामिल

कश्मीरी रंगमंच और नाटक

यह संयोग नहीं कि कश्मीर में रंगमंच पहले स्थापित होकर लोकप्रिय हुआ और फिर मंच नाटक लेखन प्रेरित हुआ। नाट्य लेखन की क्लासिकल परम्परा जो संस्कृत नाटक तथा हिन्दू राजदरबारों के मनोरंजन–उत्सवों के संरक्षण से चल सकती थी, ठीक इन्हीं कारणों के अभाव में सूख गई थी। ग्यारहवीं सदी के महाराज हर्ष की दरबारी नर्तकियों के लिए शुद्ध स्थानीय रंजन के नाट्यालेख कोई बहुत अनिवार्य भी नहीं थे, संस्कृत के नाटक उनकी सहायता करते रहे होंगे, जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में सोचे तथा लिखे जाते थे। क्षेमेन्द्र की कृतियों में नाटकीय तत्व जरूर हैं, पर उनकी नाटकीय सम्भावनाओं को बाद में कितना प्रयुक्त किया गया, इसका अभिलेख मौजूद नहीं। जैन उलाब्दीन के दरबार में कला को पुनः स्थापित करने की कोशिश की गई पर मंचन की सम्भावनाएं उस समय हो नहीं सकती थीं। कट्टरपन्थी सैयदों के साथ उसकी आरम्भिक टक्कर और बाद के समझौते से प्रदर्शनात्मक अनुष्ठानों की निगति का अन्दाज़ा करना कठिन नहीं। जनजीवन में विशाल पैमाने पर सत्तालोलुप वर्ग की सतत संघर्ष प्रवणता की जो प्रतिक्रिया हुई वह कला के जनरूपों, लोकवार्ता में अभिव्यक्त हुई। लोकनाटक की प्रकृति मंचात्मक होती है पर रंगमंच केवल लोकनाटक पर आधृत रहने के कारण परिष्कार और स्थायित्व नहीं पाता। भारत में 19 वीं शती में युरोपीय नाट्य–संस्कृति के प्रवेश से लोकनाटक की ग्रामप्रधान धारा के समान्तर नगर प्रधान नाटक मंडलियां चल पड़ीं और अंग्रेजी शासन की उपनगराविष्ट चेतना ने परोक्ष रूप से इस "मंडलीकरण" को बढ़ावा दिया। श्रीनगर में बीसवीं सदी में यही स्थिति थी। जो वर्ग किसी कारण से शेष भारत से ज्यादा सम्बद्ध था उनका स्वाभाविक संरक्षण ऐसी मंडलियों को यहां भी मिला। यही कारण है कि तथाकथित पारसी या पारसी–जैसी मंडलियों को यहां के रहने वाले पंजाबी और डोगरा वर्ग ने बढ़ावा दिया और यही कारण है कि इन मंडलियों ने यहां उर्दू–हिन्दी के नाटक ही खेले।

तत्कालीन नाटकों में काम करने वाले अभिनेताओं में स्व. वेदलाल धर, स्व. जगन्नाथ साक्री, स्व. श्रीधरजू हखू, श्री सुदामा जी कौल, श्री प्रेमनाथ जत्तू, श्री माधवजू तिक्कू, श्री राधाकृष्ण सप्रू जैसे कश्मीरी भाषी भी थे, जिनके अनुभवों को समेट संजों कर उस समय के रंगमंच पर शोध करना अभी बाकी है। इससे आधुनिक कश्मीरी रंगमंच की एक विश्वस्त पृष्टभूमि खड़ी की जा सकती है।

कश्मीरी नाटक का उद्भव

कश्मीरी का पहला उपलब्ध मंच नाटक (नन्द लाल कौल का – "सतुॅच कहवऽट" – सत्य की कसौटी) राजा हरिश्चन्द्र की सत्य परीक्षा के पौराणिक आख्यान को लेकर 1929 ई. में लिखा तथा मंचित किया गया। नाटक के मंचन–प्रस्तुतीकरण से कश्मीरी पंडित वर्ग (तथाकथित) पारसी मंचकाल से ही जुड़ा रहने के कारण नाट्यलेखन का भी पुरस्कर्ता था। जो नाटक "सतुॅच कहवऽट" के बाद लिखे गए उन पर इसकी इतनी गहरी छाप थी कि उनकी वस्तु तथा शिल्प दोनों इससे स्वतन्त्र नहीं थे। तारा चन्द बिस्मिल का "सतुॅव वथ (सत्य–पथ) "अकुॅनंदुन" (एक पुत्र "अकुॅनंदन") "प्रेमुॅच कहवऽट" (प्रेम की कसौटी) ::राम अवतार" नीलकण्ठ शर्मा का "बिल्व मंगल" जैसे नाटक हिन्दू आख्यानों पर और उसी के समांतर गुलाम नबी दिलसोज़ के "शोदुॅ" (शोहदा) "लैला मजॅनू", शीरीं खुसरो" फारसी–अरबी तथा अन्य इस्लामी आख्यानों पर आधारित थे। ये नाटक काफी लोकप्रिय हुए और एक ग्रामोफोन कम्पनी ने इन्हें रिकार्ड भी कर लिया। इन नाटकों के लिखे जाने की प्रेरणा भी रंगमंच के लिए एक प्राप्ति थी। श्रीनगर में हिन्दू समाज सुधार के दो केन्द्रों शीतलनाथ मन्दिर और शिवालय मन्दिर की धर्मशालाओं के बने बनाए मंच थे और शौकिया कलाकारों की एक पूरी पौध थी। इन पर आगे चलकर अन्य शैक्षणिक आख्यानों "सत्यवान सावित्री" "भक्त प्रहलाद" "शंकर पार्वती". "सुदामा", "कृष्ण जन्म" जैसे नाटक हफ्तों तक खेले जाते रहे और '1947-48 तक बड़ी बड़ी भीड़ें आकृष्ट करते रहे।

कश्मीरी मंच नाटक के इस उद्भव काल में पौराणिक आख्यानों की प्रभाविता का कारण केवल लेखक वर्ग के स्वरूप में ही नहीं ढूंढ़ा जा सकता बल्कि इसे उस समय की राजनैतिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में भी देख सकते हैं। यूं भी कह सकते हैं कि इस विशिष्ट विकास को हिन्दी नाटक में जयशंकर प्रसाद के नाटकों के सामाजिक–राजनीतिक विश्लेषण के समानांतर देखा–समझा जा सकता है। प्रसाद समकालीन हताशा को ऐतिहासिक स्वर्णिम विस्तार के बीच स्थापित करके छोटा करके पेश करना चाहते थे और कश्मीरी नाटककार राजनीति के लोकप्रिय साम्प्रदायिक स्वरूप के समक्ष अपनी अलग पहचान बनाए रखना चाहते थे। यह अलग बात है कि भारतीय पुराण, कला और नाटक के सदा तैयार अक्षण्ण कोष हैं और उन्हें आज भी समसामयिक अर्थ ढूंढने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। उस समय स्थिति भिन्न थी। कश्मीर में डोगरा शासन के हिन्दू रूप में यदि स्थानीय हिन्दू को कोई आश्वासन नज़र आता था तो वह लोकप्रिय अधिसंख्य राजनीति के सम्प्रदायीकरण के कारण फिसलती ज़मीन पर था। 1939 तक, जब मुस्लिम काफ्रेंस की सम्प्रदायगत भूमि बन रही थी,

स्थानीय राजनीति भारत के धर्मनिरपेक्ष सन्दर्भ से जुड़ी नहीं थी। जुड़ जाने के बाद अर्थात् नेशनल कार्फ्रेंस के निर्माण के बाद धीरे–धीरे स्थानीय हिन्दू खुलकर राजनीति में आ गया। इसका सब से बड़ा प्रमाण 1942 का "कश्मीर छोड़ो आन्दोलन" है जिसके नेतृत्व का बड़ा भाग पण्डितों के हाथ में था। मगर अधिसंख्य पण्डित वर्ग किसी स्वर्णिम देवकाल के स्वप्न से पीड़ित था। 1942 का आन्दोलन भी स्वप्न जीवी पण्डित लड़कों के लिए मार्क्सी स्वर्ण–स्वप्नों को चरितार्थ करने का पंथ बन गया।

"सतुंच कहवऽट" से एक अंश का स्वतंन्त्र अनुवाद शायद तथाकथित पारसी–शैली के नाटक की विशेषताएं रेखांकित कर सकेगा :–

चौथा पाऽथर (अंक), दूसरा स्वांग (दृश्य)

(श्मशान)। (तारा शव लेकर आती है और नीचे रख देती है।)

हरिश्चन्द्रः (तारा से) तुम अकेली खुद ही शव लेकर क्यों आई हो ? तेरा नहीं कोई अपना है ?

ताराः (रोते रोते) मेरे कर्म में यही बदा है।

हरिश्चन्द्रः यह तेरी सन्तान होगी ? (आश्चर्य से दोनों को देखते है।)

तारा : हे चांडाल ! क्यों देख रहे हो इसे इस कदर ध्यान से? मेरी एक अकेली यह सन्तान है। सांप ने लिए इसके देखो प्राण हैं।

हरिश्चन्द्र : डूबे जाएं इसे देखकर मेरे मन और प्राण हैं। (उसांस लेकर)

अच्छा। भगवत् इच्छा। आओ दो मुझे सोने की एक मुद्रा और मैं इसका दाहसंस्कार करूं।

तारा : मुझ पर करना दया प्रभु। मैं परदेसिन हूं। परकटी पंछिन हूं। सोने की मुद्रा के बगैर करोगे क्या नहीं दाहसंस्कार इसका ?

हरिश्चन्द्र : नहीं यह हो सकता। नहीं मुझे है ऐसी आज्ञा।

यह नाटक बहुत बार घाटी भर में खेला गया तो केवल पौराणिक होने के कारण नहीं बल्कि कलात्मक पूर्णता के कारण इस की मांग बढ़ती गई। पारसी शैली के दबाव को मानते हुए भी इसमें नाटककार ने नाटकीय और मानवीय भावनाओं का चित्रण कुशल शिल्पी की तरह किया है। इस के तथा इस तरह के अन्य नाटकों के मंचन में यथार्थ को पुनः सृजित करने की हर संभव विधि अपनाई जाती थी। उस समय उपलब्ध तंत्र की सहायता से आकाश में उड़ना, नदी में चलना, स्तम्भ का बीच में से फूट जाना आदि दिखाया जाता था और इलैक्ट्रानिक सहायता के अभाव में पटाखे छुड़ाकर और रंग बिरंगे कागज़ों से मंच की रंगीन दुनिया को उभारा जाता था। तुकान्त संवादों के अलावा पात्र स्वतंत्र गीत भी गाते थे।

नागरिक या कहना चाहिए कि नगर केंद्रित नाटक के साथ–साथ दो और धाराएं चल रही थीं। एक थी सजे सजाए मंच से अंसबद्ध मगर किताबी ज्ञान से प्रेरित कुछ लेख़कों की। मुहीउद्दीन हाजिनी ने (1938) "ग्रीस्य सुंद गरुँ" (किसान का घर) नाटक शुद्ध ग्रामीण अनुभव को लेकर लिखा। इसे कुछ गावों में खेला गया और समस्या के स्थानरंजन के कारण इसे पसन्द भी किया गया। भाषा स्थानीय मुहावरे पर आधारित थी पर समस्या के प्रति एप्रोच शास्त्रीय था। हाजिनी का नाटक लिखने का अनुभव दोबारा बहुत कम प्रयोग में लाया गया। इस अनुभव की प्रेरक शक्ति भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान की उनकी इच्छा थी। कश्मीरी भाषा और लिपि को सही स्थान दिलाने में उन का बड़ा हाथ रहा है और जब कश्मीरी में विशेष कर गद्य की ओर लेखकों की प्रवृत्ति नहीं के बराबर थी, तब उनका हर प्रयत्न इस भाषा को आंदोलित करने के प्रति लक्षित होता था।

दूसरी प्रवृत्ति लोक नाटक "बांड पाऽथुॅर" (या भांड नाटक) की अक्षुण्ण परम्परा की थी जिसके कथा सूत्र और अभिनय–विधि रीतिकृत थे, और जो राजनीतिक वातावरण में और ज्यादा समृद्ध हुई। कारण यह था कि यह नाटक विषमता के विरोधों से ही जीवन ग्रहण करता रहा। जनसामान्य की नाराज़गी प्रकट करने और हॅंस कर विरोध जाहिर करने का यह सर्वसुलभ साधन था। लोक वार्ता के अन्य अंगों जैसे लोक कविता और लोक कथा से भिन्न होने के कारण यह सामूहिक प्रतिरोध का बेहतर वाहन था क्योंकि नाटक प्रकृति से ही सामुदायिक होता है। मगर यह कश्मीरी संस्कृति की विडंबना थी कि इस सैंकड़ों वर्ष पुरानी परम्परा से न उस समय के लेखक ने और न ही मंचकर्मी ने लाभ उठाया। इस विडंबना का कारण शायद संस्कृति की, जातीय संस्कृति की चेतना का अभाव था।

जन साधारण और आधुनिक कश्मीरी मंच

जातीय चेतना को उभारने के लिए एक झटके की ज़रूरत थी। हिन्दी और अहिन्दी भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता के अभ्युदय से मंचकर्म भी प्रभावित हुआ था और भारतीय लोक नाटक संगठन अथवा इप्टा की स्थापना ने देश की करीब–करीब हर भाषिक इकाई और जातीय केन्द्र को झकझोरा था। कश्मीर में भी इप्टा की स्थापना की कोशिश हुई। स्व. बलराज साहनी ने अपनी इस पितृभूमि को इप्टा के भारतीय मानचित्र में लाने की कोशिश की पर कोशिश सफल नहीं हुई हालांकि प्रेमनाथ परदेसी, महजूर और आज़ाद जैसे आज़ाद खयाल लोगों से सम्पर्क बढ़ा और प्रो. पुष्प आदि के सद्प्रयत्नों से "सोवियत संघ के मित्र" नामक संस्था या विचार गोष्ठी ने जन्म लिया। ऐसे प्रयत्न बहरहाल बौद्धिक स्तर तक ही सीमित थे। 1947 में आज़ादी और कश्मीर के भारत से जुड़ जाने के बाद कबाइली आक्रमण हुआ। प्रगतिशील तत्व कार्य–शील हुए और जनसाधारण में प्रतिरोध की चेतना जगाने के लिए मंच ने बड़ी भूमिका अदा की। जनप्रशासन की स्थापना और सत्ताधारी दल की प्रगतिशील घोषणाओं से विश्वस्त वातावरण में "कल्चरल फ्रंट" की स्थापना कश्मीरी साहित्य और मंच के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस मोर्चे के तत्वावधान में 'परदेसी' के छोटे बड़े नाटकों जैसे "डालरसाऽब" तथा "3/4" साम्राज्यवादियों के प्रत्यक्ष और परोक्ष हस्तक्षेप तथा

जागीरदारी–ज़मीनदारी व्यवस्था के वर्गसापेक्ष जुल्मों को निहायत ही अप्रच्छन्नरूप में और कलात्मक बाजीगरी के बगैर जगह–जगह पेश किया गया। इससे सही तौर पर उस समय के मंच नाटक और वस्तुतः आधुनिक कश्मीरी मंच नाटक की सम्भावनाओं का अन्दाजा हुआ। इसी तर्ज पर फिर 1950 में एक भयानक बाढ़ आने के वक्त अली मुहम्मद लोन का ''विज़ छि साऽन्य'' (बेला हमारी है) और पुष्कर भान का ''या तन या तडाख'' जैसे नाटक खेलकर लोगों में आत्मरक्षा के लिए मनोबल जुटाने की कोशिशें हुई और हास्य व्यंग्य द्वारा पीड़ा कम कराने की चेष्टा भी। इन नाटकों की साहित्यिक कद्रोकीमत क्या थी–इस प्रश्न में न जाकर यहां यह कहना ज़रूरी है कि इन से उस रंगमंच के लिए मानक आधुनिक सामग्री जुट गई जो 1956 में ''जश्ने–कश्मीर'' के दौरान बहुत काम आई। 1956 में कलचरल अकादमी की स्थापना और इस संस्था के द्वारा फिर मंच को संरक्षण देने के लिए जो कार्य हुए, वे स्तुत्य हैं।

कश्मीरी मंच की स्थापना, इसे जीवन दान देने तथा इसे परिनिष्ठित करने में दीनानाथ 'नादिम' के गीत–नाटकों का बड़ा हाथ रहा है। ''बोंबुर तुॅ यंबरज़ल'' (भ्रमर और नरगिस) ''नेकी तुॅ बदी'' (नेकी और बदी) ''हीमाल नाग्राय'' तथा ''व्यथ'' (अथवा ''वितस्ता'') जैसे गीत–नाटकों ने मंच की साफिस्टिकेटेड ऊंचाइयों को खोज निकालने की जबर्दस्त प्रेरणा दी। इन में, वस्तु की दृष्टि से, लोक कथाओं या इतिहास कथाओं का आधार लिया गया और कश्मीर की जातीय संस्कृति को विश्व बंधुत्व तथा आधारभूत मानव–अनुभूतियाँ उजागर करने की गर्ज़ से गीत रंजित किया गया। पुष्कर भान, मोहन लाल ऐमा, प्राण किशोर जैसे सिद्ध हस्त मंच शिल्पियों ने इन गीतों को नाटकीयता से दोलायित किया ओर कई गणमान्य अभिनेताओं ने इन्हें संगीत की लय पर खेला। नादिम जैसे भाषा की व्यंजना को उभारने वाले कवि ने इन में भावनाओं की कोमलता और कोमलता की विविधरंगी अर्थ छायाएं उभारीं। काल्पनिक समृद्धि और यथार्थ समस्याओं के अर्थपूर्ण इशारों से ये गीत–नाट्य मालामाल हैं। मंच के परिष्करण के लिए इनका अलग महत्व है। भारतीय शास्त्रीय संगीत, कश्मीरी सूफियाना संगीत और लोक गीत तथा नाटक की तमाम परम्पराओं को इनमें जीवित पाया जा सकता है। मंचकार के लिए अभिनेता की शरीर मुद्राओं में शास्त्रीय या कहें कि नियमपुष्ट परिसंस्कार लाना तथा फिर उस की सहज मुक्त गति में समन्वय स्थापित करना एक विशिष्ट अनुभव रहा होगा। यदि ऐसे अनुभव लिपिबद्ध किए जाते तो मंचन की विकासशील परम्परा को आगे बढ़ाने में बड़ी सहायता मिलती। ''नादिम'' का नाट्य लेखन प्रगतिशील मानव मूल्यों की पुनर्स्थापना को समर्पित है इसके लिए क्या केवल जन नाट्यानुभव और मर्यादाओं से ही लाभान्वित होना और नाटक करना सही था या कि शास्त्रीय परम्परा पुष्ट सरणियों से गुज़र कर प्रस्तुति को मुकम्मल बनाना–यह बहस का विषय है। जिसमें सरोकारी रंगकर्मी हिस्सा ले सकते हैं। जो भी हो कश्मीरी मंच नाटक के इतिहास के विकास की दागबेल उन्हीं के नाटकों (जैसे ''बोंबुर तुॅ यंबरज़ल'') से पड़ती है कश्मीरी नाटक की विकसित स्थिति का एक महत्वपूर्ण चरण भी नादिम का ही गीत नाट्य (वितस्ता) है।

यह संयोग नहीं कि ''भांड पाऽथर'' को आधुनिक परिवेश की अभिव्यंजना के लिए सबसे

पहले राधाकृष्ण ब्रारू ने इस्तेमाल किया। ब्रारू पांचवें दशक से ही कश्मीर में होने वाले धर्मनिरपेक्ष नाटकों के प्रति, व्यक्तिगत कठिनाइयों ओर सामाजिक भर्त्स्ना के बावजूद जिस तरह समर्पित रहे, वैसी मिसालें कम ही मिलती हैं। उनके प्राइवेट अनुभव और संस्मरण (यदि वे लिखते तो) आधुनिक कश्मीरी मंच की पृष्ठभूमि समझने में मददगार होते। 1963 में उन्होंने "याहू" नामक नाटक लिखा और उसे खुद ही प्रस्तुत भी किया जो इस "पाऽथर" की "राजुं पाऽथर" (राजा–नाटक) किस्म पर आधारित था। मुख्य कथा–अवदान (अभिप्राय–मॉटिफ) तथा वार्तालाप की प्रकृति "भांड" जैसी थी, पर प्रासंगिकता के खयाल से वस्तु समकालीन महत्व की थी। प्रस्तुतीकरण में पात्रों की चेष्टा, परिभ्रमण, ऊहात्मक अदाकारी तथा साज सज्जा सब "भांडमय" थी मगर प्रस्तोता ने प्रोसीनियम के चौखटे की हदें तोड़ने की पहल नहीं की और मंच की गहराई को कृत्रिम, निर्माण से युक्त करने को भी उपयुक्त नहीं समझा। राजा और बज़ीरों के लिए ऊंची सतह की परिकल्पना को उन्होंने ईमानदारी से कार्यान्वित किया, यद्यपि इससे लोकनाटक की मूलभूत सहजता और सर्वपात्र समता में व्याघात पैदा हुआ। लोकनाटक में जो विद्रूप का तत्व होता है और जिसकी रक्षा एक ही सतह पर पात्रों को खिलाने से सफल हो जाती है, उसमें इससे थोड़ी बाधा पैदा हुई। पर ब्रारू का धैर्य तथा कल्पनाशीलता श्लाध्य हैं कि उन्होंने इस तबतक के "गर्हित" नाट्यव्यापार को "टैगोर हाल" के परिनिष्ठित मंच पर चढ़ाया और सुसभ्य नाटक प्रेमियों को अपनी शक्तियों से परिचित कराया। उनकी उस प्रस्तुति में अगर हमें अभाव नजर आते हैं तो आज के मुकाबले में, जबकि लोकवार्ता पुनःजीवित हो गई है और इसे काफी प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। ब्रारू ने इसे तब प्रतिष्ठित किया, ईमानदारी और समर्पण के साथ। समर्पण इस रंगकर्मी की हर प्रस्तुति का मूलमंत्र रहा है। ऐसी समर्पण भावना किसी भी भाषा के रंगकर्मी के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है। कश्मीरी मंच पर अपनी दर्जनों प्रस्तुतियों में उनकी एक और पहल उल्लेख्य है–पहले एब्सर्ड नाटक (आइनेस्को के "पाठ") का मंचन। यह उर्दू में हुआ।

कश्मीरी मंच नाटक को स्थाई लोक रंग देने का श्रेय मोती लाल क्यमू को है। शास्त्रीय नृत्य से शुरू करके ओर नाटक–प्रस्तुति में बड़ौदा से उपाधि प्राप्त करके उन्होंने कलाकार के नाते अपना जीवन हिन्दी में नाट्यलेखन से शुरू किया। उनकी आरम्भिक प्रस्तुतियों में रवीन्द्र का "डाकघर" और चन्द्रवदन मेहता का "काज़ी" जी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तीन असंगत एकांकियों की रचना की जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुए – "नंगे", "दर्पण अंतःपुर का" और "संध्या बीती"–इन तीनों में अनर्गलता का तत्व उसी प्रकार समाहित है जैसे यह क्यमू के प्रेरक नाटककारों आइनेस्को, पिराँदिलो, या एलबी में था। कश्मीर में ये नाम अभी बहुचर्चित नहीं थे। अनर्गलता का यह रंजन पूरे क्यमू – साहित्य में मौजूद है, यद्यपि बाद में उन्होंने नगर प्रधान और नागरिक पक्षपात की समस्याओं के बदले लोक–नाटक को ही अध्ययन, प्रयोग तथा प्रस्तुति का साधन बनाया। लोक नाटक में अनर्गल तत्व शायद ज्यादा सहज होता है और अनिवार्य रूप से हास्य तथा व्यंग्य की सृष्टि करता है। लोक के प्रति क्यमू के झुकाव के प्रथम सूत्र उनके "काज़ी जी" के मंचन में मिलते हैं जो गुजरात (वस्तुतः पश्चिमी भारत) की भवाई शैली में लिखा तथा खेला जाता है। "दर्पण अंतःपुर का" का स्वतन्त्र अनूकूलन करके जब क्यमू ने" हरम खानुक आऽनु" लिखा तो इस की प्रस्तुति में भवाई तथा

भाण्ड दोनों का सुन्दर मिश्रण द्रष्टव्य था। वस्तुतःनाटक का आलेख इसी शैली की मांग करता है और यही इसकी समुचित प्रस्तुति हो सकती है। फिर तो क्यमू "शुद्ध लोकरंगी" हो गए। उनके "मंजॅुल्य् निकुँ" (पालने का पूत), "मांगय" (मांगना) "त्रुनोव" (त्रिनाम), "हय क्या गोम" (हाय मुझे क्या हुआ), "तोतु तुँ आऽनु" (तोता और आईना) तथा डख योंलि चलन (जब आधार छूट जाएगा) शुद्ध लोक रंगी हैं। इनमें "भाण्ड" शैली का संशोधित रूप मिलता है। उनके किसी भी नाटक में हम किसी एक भाण्ड नाटक शैली की सम्पूर्ण छाप नही पाते। इस निबन्ध के लेखक ने "मंजॅुल्य निकुँ" को अनतनाग कालेज के खुले मेदान में 1971 में खेला था जबकि इसी नाटक को टैगोर–हाल में मखनलाल सराफ ने मंच, हाल तथा बाल्कोनी के समवेत प्रयोग से प्रस्तुत किया जो एन्विरान्मेंटल रंगमंच की बानगी लिए था। खुद क्यूम ने इसे जब "अभिनव भारती" नाटक – क्लब की प्रस्तुति में अपनी देख–रेख में प्रस्तुत होते देखा तो वह और भिन्न था। मगर तीनों में देखा यह गया कि लोक शैली के नाटक में प्रस्तुति.– के नवीकरण की गुंजाइश हमेशा रहती है, बशर्ते कि नाटक का कथ्य ताज़गी बनाए रहे।

क्यमू के प्रयत्नों से कश्मीर के पेशेवर भाण्डों को संगठित किया गया जिससे कमअज़ कम अकिनगाम (कुकरनाग) के "भगत भाण्ड रंगमंच" की स्थापना हुई। मुहम्मद सुब्हान भगत ने शौकिया भाण्ड नटों का नेतृत्व करके विविध "भाण्ड पाऽथरों" का विधिवत और निरन्तर मंचन किया और इस रंगमंच को कश्मीर के पेशेवर रंगमंच के लिए एक आदर्श मार्ग–दर्शक बनाया। श्री भगत की प्रतिभा उनके लेखन में भी फूट निकली और वे खुद के लिखे नाटक खेलने लगे। "तकदीर" (1972) उनके तीन नाटकों का संकलन है जिसके बाद उन्होंने और कई नाटक लिखे तथा दर्जनों बार मंचित किए। शहर से बाहर ग्रामांचलों में पेशेवर नटमंडली की तरह उनके थियेटर ने नाट्यमंचन का पूरा आंदोलन चलाया। कश्मीर का ग्राम नाटक बहुत हद तक भगत का आभार मानेगा। पारम्परिक भाण्ड पाऽथर को भी ये प्रस्तुत करते रहे। मगर उनके लिखित (मौलिक) नाटक इस लोक शैली को पूरी तरह आत्मसात करने का प्रमाण नहीं देते। पारम्परिक नाट्य प्रस्तुतीकरण में वे जितने दक्ष हैं उतना ही वे नाट्यलेखन में इस शैली के प्रतिफलन पर अधिकार नहीं पा सके हैं। बाद के नाटकों जैसे "मनटॅुनि लेजि पांजुव" (पाव वाली देग में सेर) में उन्होंने इस पाऽथर की रूढ़ियों (जैसे मसखरा) तथा वार्तालाप, की बुनावट का प्रयोग करके इनको पाऽथर की समरूपता प्रदान की। जो भी हो यदि कश्मीर में पेशेवर थियेटर को उन्नत होना है तो भगतों के अनुभव से बहुत सीखना होगा।

मुहम्मद सुब्हान भगत के अधिकांश नाटक यदि यथार्थवादी धरातल पर लिखे और खेले जाते हैं तो इसका यह कारण है कि अधिकांश कश्मीरी नाटकों का यही धरातल है। नाटक सुरचित होता है और प्रस्तुति बन्दशाला में प्रोसिनियम की सीमाओं में कल्पित जी जाती है। कल्चरल अकादमी के नाट्य समारोहों या क्लबों के स्वतन्त्र प्रोडक्शनों ये नाटक उल्लेखनीय हैं: "छ़ाय" (छाया) "नगरब्वदाऽस्य" (नगर उदास–ले०क्यमू) "ज़लुर" (मकड़ा) "रवपयि रूद" (रूपयों की वर्षा) "गाशि तारुख" (रोशनी का तारा ले० सजूद सेलानी) "मायि मंज़ छायः" (माया में छाया–ले० भूषण बेताब) "तकदीर साज़", "आदम हवा और इबलीस", "सुय्या"–'ले०अली मुहम्मद लोन' "अकाश पाताल"–ले० निर्दोष) "नऽवन्वश, (नई बहू) "चपाथ" (चपत)–ले०

सोमनाथ साधु तथा पुष्करभान) "नाटक कऽरिव बंद" (नाटक बंद करो—ले० हरिकृष्ण कौल) "व्वल हरिश" (उथल पुथल), "तलाश"—ले० अवतार कृष्ण "रहबर" (अकनंदुन—ले० गुलामरसूल "संतोष")। इन नाटकों की प्रस्तुतियाँ कश्मीर का मंच विकसित करने में बहुत सहायक रही हैं। इन्होंने त्रिलोकदास, ओमकार खज़ांची, पुष्कर भान, सूरज तिक्कू, सुदामा जी कौल, लक्ष्मीनारायण कौल, मखन लाल सराफ, स्व० सोमनाथ सुंबली, मोतीलाल दर, बंसी मट्टू, बंसी रैना, कन्हैया दर, प्यारे रैना, उपेन्द्र खशू, प्राण चंद्रा, रीता जलाली, आशा ज़ारू, काज़ी फैज़, अब्दुल मजीद आदि दर्जनों अभिनेता – प्रस्तोता–निर्देशक दिए। पर एक सत्य कश्मीरी मंच को हमेशा प्रभावित करेगा। वह यह है कि कश्मीरी नाटक अभी बहुत छोटी आयु का है तथा अनुभव समृद्ध नहीं। इसलिए प्रस्तोताओं को अन्य भाषाओं के हिंदी अनुवादों की ओर देखना पड़ता है। हिंदी अनुवादों के मंचन बड़े लोकप्रिय हैं क्योंकि अच्छे आलेख प्रस्तुति की सफलता की आधी गारंटी होते हैं। बादल सरकार, मधुराय, तेंदुलकर, कर्नाड आदि के नाटकों के कश्मीरी अनुवाद की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि दर्शक हिंदी अनुवादों को समझते और सराहते हैं। यद्यपि इनके अनुवाद न होने के कारण साहित्यिक कश्मीरी नाटक विशेष लाभान्वित नहीं होता, पर कश्मीरी नाटकों का मंचन इन अन्यभाषी नाटकों के आलेख–निर्देशित–मंचन से ज़रूर प्रभावित होता है। मूल हिंदी नाटकों में, जिन को कश्मीर के मंच पर प्रस्तुत किया गया है, "एक और द्रोणाचार्य", "कोणार्क", "सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली तक", "बिना दीवारों के घर", "आषाढ़ का एक दिन" आदि उल्लेखनीय हैं। इनसे कश्मीरी नाटकों के लेखन तथा मंचन दोनों के लिए अनुकूल हवा बन गई है।

कश्मीरी मंच नाटक का रेडियो तथा दूरदर्शन के नाटक से जबर्दस्त मुकाबिला हैं अभी तो देखा यह जाता है कि इन सरकारी संस्थाओं से प्रसारित नाटक ही प्रायः रूप बदल कर मंच पर आ रहे हैं। इससे मंच के मौलिक विकास और स्वाभाविक उन्नति में कोई सहयोग नहीं मिलेगा। हमें वास्तविक और समर्पित मंच से ही लेखक, प्रस्तोता, अभिनेता पैदा करने होंगे जो मंच को सच्चा जीवनदान तथा अस्मिता प्रदान कर सकें।

●

विस्थापन और कश्मीरी विस्थापन साहित्य

यह कहना ग़लत न होगा कि भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन से जैसा नरसंहार हुआ, परिवार उखड़े और मानव संबंधों में दरारें पड़ीं, लाखों लोग बेसहारा हुए तथा रोज़ी–रोटी की समस्या ने जैसा विकट रूप धारण किया, उसी अनुपात में देश का साहित्य प्रभावित नहीं हुआ। कारण शायद भौगोलिक दूरियाँ हों। यदि भौगोलिक दूरी बाधक न होती तो निकटवर्ती पंजाबी, कश्मीरी, डोगरी और बंगला भाषा के साहित्य की तरह ही अन्य दूरस्थ भाषाओं के साहित्यो में भी इस मानव त्रासदी का समान प्रभाव लक्षित होना चाहिए था। पर हुआ यह कि उक्तभाषाओं के भुक्तभोगी साहित्यकारों को भी इस भयंकर घटना–श्रृंखला ने पर्याप्त उद्वेलित नहीं किया। हिन्दी में आठ–दस उपन्यास और कुछ कहानियों को छोड़ कर कोई ऐसा महत्वपूर्ण लेखन नही हुआ जिसे देखकर कहा जा सके कि हमारे लेखक पर्याप्त समाजचेतन हैं, या कि व्यापक देशी सरोकारों से सम्पृक्त हैं। मध्ययुग में तुलसी और कबीर जैसे परमार्थ–सेवी कवि पाप–पुण्य, सज्जन–दुर्जन, नीति–अनीति के विश्लेषण में अपने सामाजिक सरोकारों की अभिव्यक्ति करते हैं, जबकि आज सामाजिक शक्तियों की टकराहट से अछूते न रह सकने के बावजूद हमारे लेखक बँधे–बँधाए घेरों और प्रमेयों से बाहर देख नहीं पाते। इसी तथ्य के प्रकाश में कश्मीर के विस्थापितों के प्रति हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के ठंडे रवैये को समझा जा सकता है।

विस्थापन की यह समस्या साधारण नहीं है। न ही यह देश–विभाजन के बाद होने वाले विस्थापन–सी स्पष्ट है और न ही किन्हीं पूर्व निर्धारित निदानों से हल की जा सकती है। यह समस्या इतनी प्रबल है कि पूरे देश को भीतर ही भीतर कुरेद कर खोखला कर दे सकती है। इस से केवल एक और विभाजन का खतरा ही नहीं, देश के संपूर्ण विखंडन का भी ख़तरा है। शायद यही कारण है कि कश्मीरी भाषा में विस्थापन–साहित्य एक ज़िम्मेदार तथा सचेत प्रवृत्ति के अंतर्गत लिखा जा रहा है और इस प्रवृत्ति ने अपनी पहचान बना ली है।

कश्मीरी के विर्वासन–साहित्य के अध्ययन के प्रसंग में भारतीय साहित्य का संदर्भ

उभरना अवश्यंभावी है। साहित्यालोचन में पिछले कुछ दशकों में यह बात स्पष्ट उभर कर आई है कि साहित्य के समाज–प्रेरित वर्गीकरण, या कहें कि सामाजिक शक्तियों की प्रकृति पर आधारित वर्गीकरण को ही अंतिम नहीं माना जा सकता। जिंदगी तेज़ी से बदलते हुए अपने प्रतिमान बनाती–बदलती रहती है और समस्याएँ भी सदा सार्वभौम और सामान्य नहीं होतीं। वर्ग, संप्रदाय, समूह, जाति–प्रजातियों की अपनी कुछ नितांत विशिष्ट समस्याएँ हैं जिन्हें सरल वर्गीकरण से समझा नहीं जा सकता, पर निकट या दूर वर्ती समाजों के प्ररिप्रेक्ष्य में, और कभी–कभी विरोध में भी समझा जा सकता है। विश्व स्तर पर देखें तो अश्वेत साहित्य की एक अलग पहचान बन चुकी है और इसे अमरीकी या यूरोपीय साहित्य की मुख्य धारा के परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा है। अफ्रीकी साहित्य अश्वेतों की सर्वथा स्थानीय समस्याओं को वाणी देता है, फिर भी इसे विश्व साहित्य के परिप्रेक्ष्य में समझना पड़ता है। भारतीय संदर्भ में दलित–साहित्य को ले सकते हैं। यह न केवल एक अर्थिक वर्ग की बात करता है बल्कि उन की भी, जो लोकतंत्र की प्रक्रिया में आर्थिक दृष्टि से समद्ध हो कर भी लगातार धार्मिक–सामाजिक शोषण का शिकार है। ऐसे में, दलित लेखक केवल दलितों के द्वारा नहीं लिखा जा रहा बल्कि यह सामाजिक वर्ग विशेष का प्रतिनिधि स्वर होने के साथ–साथ कुछ साहित्यिक मूल्यों की भी प्रतिष्ठा करता है। ये मूल्य अपनाने वाला कोई भी रचनाकार ''दलित'' लेखक हो सकता है।

मराठी के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार नारायण सुर्वे के अनुसार यह इस विचारधारा का विकास ही है कि इस से अन्य लेखकों को यह कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि आर्थिक वर्गीकरण की दृष्टि से दलित और आदिवासी समवर्गी है और उन का प्रजातीय अलगाव कम महत्व का है। अब तो कुछ प्रगतिशील आलोचक ''मुस्लिम'' – और ''ईसाई'' साहित्य की भी चर्चा करने लगे हैं: यदि किसी समूह का सांस्कृतिक व्यक्तित्व अलग है तो उस की साहित्यिक अभिव्यक्ति भी अलग ही होगी और इस अलगाव को समझने के लिए मुख्य धारा की प्रवृत्ति पहचाननी होगी। आज यह बताने की ज़रूरत नहीं कि केवल समाजशास्त्र के सिद्धांत या अर्थशास्त्र के घिसे–पिटे उसूल मनुष्यों की सोच और कार्यप्रणाली की व्याख्या नहीं कर सकते। कोई भी समाज निश्चित सिद्धांतों के अटल अनुपालन पर नहीं चलता। निहित स्वार्थों और अंतरदेशीय व्यापारिक वरीयताओं से मनुष्य की ज़िन्दगी बनती–बिगड़ती दिखाई दे रही है। ऐसे में साहित्यिक अध्ययन यदि कोरी शास्त्रीय विवेचना का मुँह जोहता रहे तो वह अपूर्ण और अप्रामाणिक होगा।

बीसवीं सदी की अंतिम दहाई में राजनीतिक संरचनाएँ और सामाजिक ढाँचे जिस गति से परिवर्तित हुए, उस से छोटे प्रजातीय और नस्ली मानव–समूह अपनी विशिष्ट समस्याओं को फ़ोकस में लाने में सक्षम हुए। इस से उन विचारधाराओं को चुनौती मिलने लगी हैं जो सरल साधारणताओं में उनकी इयत्ता को नज़र अंदाज़ कर रही थीं। कश्मीर की अल्पसंख्यक जाति (जो पंद्रहवीं सदी तक बहुसंख्यक थी) यहाँ की वर्तमान अधिसंख्या से नस्ली दृष्टि से भिन्न नहीं, पर यह यहाँ सभ्यता के आदिकाल से ही भारतीय मुख्यधारा को अक्षुण्ण रखने वालों की संतान है। इस ने मध्यकालीन मध्य एशियाई सांस्कृतिक–धार्मिक दबावों को अस्वीकार

किया। दूर से आई सांस्कृतिक बाढ़ में न बहते हुए और स्थानीय परंपरा को पूर्ववत् निभाने की प्रवृत्ति से कश्मीरी पंडितों की पहचान अनन्य होती गई। पर समय गुज़रने के साथ और भौगोलिक अलगाव के कारण ये विशिष्टताएँ भारतीय मुख्यधारा से भी कुछ अलग होती गई। इस तरह कश्मीरी पंडितों की स्थानीय धार्मिक और सामाजिक परम्पराएँ साधारण दृष्टि से भारतीय होते हुए भी सर्वथा उस के अनुरूप भी नहीं, सर्वदा समकालीन भी नहीं।

विगत छह–सात सौ वर्षों के लगातार धर्म परिवर्तन के बाद जो हिंदू बचे रह गए, वे तकरीबन सभी ब्राह्मण थे अतएव "पंडित" कहलाए। नाम तथा परंपराओं की दृष्टि से वर्तमान अल्पसंख्यक "कश्मीरी पंडित" कहलाते हैं पर विशालतर भारतीय वर्ण व्यवस्था में वे केवल हिन्दू हैं। बार–बार इस जाति को वतन से निर्वासित होना पड़ा है जिस से इस के अनुभव को अभिव्यक्ति भी तीक्ष्ण और विशिष्ट होती गई। पंजाब या बंगाल कश्मीर जैसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से नहीं गुज़रे। यह भी एक कारण है कि देश–विभाजन की विभीषिका से ग्रस्त हो जाने के बाद भी पंजाबी या बंगला साहित्यकार अपनी रचना को अपने अनुभव की–सी तीक्ष्णता प्रदान नहीं कर सका, और इन भाषाओं में निर्वासन या विस्थापन साहित्य की वैसी प्रवृत्ति पैदा नहीं हो सकी।

कश्मीर संबंधी विस्थापन–साहित्य केवल कश्मीरी नहीं, अन्य भाषाओं, जैसे उर्दू, पंजाबी, डोगरी, अंग्रेज़ी, हिन्दी में भी रचा जा रहा है। यह इस बात का प्रमाण है कि कश्मीर की विस्थापन समस्या केवल कश्मीर की समस्या नही; इसे विशालतर भौतिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर समझा जाने लगा है। निस्संदेह ये लेखक विस्थापन के भुक्तभोगी या प्रत्यक्ष–द्रष्टा हैं और इसी भौगोलिक क्षेत्र से संबद्ध है। पर लगता है कि कुल मिलाकर हमारे देश का अकश्मीरी लेखक उसी तरह कश्मीरी लेखन सें अनजान है, उस में रुचि नहीं लेता, जिस तरह देश का अकश्मीरी समाज आम तौर पर कश्मीरी विस्थापन–समस्या और वहाँ के आतंकवाद के भयानक देशव्यापी परिणामों से अनभिज्ञ और अछूता दिखता है। इस समस्या को किन्हीं व्यक्तियों तथा राजनीतिक दलों के मत्थे मढ़ दिया जाता है और अपने उत्तरदायित्व को टाल दिया जाता है।

दलित–लेखक को जिस तरह (प्रधानतया) मराठी की मुख्यधारा के लेखन की तुलना में या उस के विरोध में देखा जा सकता है, क्योंकि यह मुख्यधारा के विश्वासों, मूल्यों या रचना–लेखन–पद्धतियों से अलग उभरा है, उसी तरह कश्मीरी भाषा का विस्थापन–लेखन भी अलग ही उभरा; पर मूल्यांकन के लिए इस साहित्य को कश्मीरी की मुख्यधारा के वर्तमान लेखन की कसौटी फ़िलहाल उपलब्ध नहीं। कश्मीर घाटी में इस समय जो लिखा जा रहा है वह सब प्रकाश में नही आ रहा। कश्मीरी की एकमात्र नियमित स्तरीय पत्रिका 'शीराज़ा' रुकते–रुकते छप रही है।[1] निजी प्रकाशक नहीं हैं, पुस्तकें बहुत कम आ रहीं हैं। परंतु कश्मीर घाटी को शेष भारत से अलग करने वाले भौगोलिक अवरोध अर्थात पांचाल पर्वत के

1 पिछले दो तीन वर्षो में 'आलव' (पुकार) राज्य सूचना विभाग द्वारा निकाली जा रही है। 'हर मुख' 'परतव' (छवि) तथा 'सकाफत' (संस्कृति) जैसी छोटी अनियतकालीन पत्रिकाएं कश्मीर से तथा 'सतीसर' जम्मू से निकल रही है।

इस पार निर्बन्ध साहित्यिक वातावरण है जिस में बेघरबार, बदहाल वर्तमान तथा अनिश्चित भविष्य वाले कश्मीरी लेखक अभी भी रचनाशील हैं और प्रकाशित होते रहे हैं।

विस्थापित लेखक को समझने के लिए विस्थापन की संक्षिप्त पृष्ठभूमि देना आवश्यक है। विभाजन के बाद धार्मिक कट्टरता पर स्थापित पाकिस्तान द्विराष्ट्रवाद को तर्कसंगत तथा न्यायपूर्ण सिद्ध करने की दृष्टि से मुस्लिम–बहुल कश्मीर में कट्टरपंथी व्यक्तियों तथा दलों को बराबर सरंक्षण तथा समर्थन देता रहा है। इस कारण, कुछ उदार–वादी विचारकों तथा दलों को छोड़ कर घाटी की अधिसंख्य सोच प्रभावित होती रही। पिछले तीन–चार दशकों के दौरान कट्टरपंथ विश्वव्यापी हुआ है और एक के बाद एक उदार–वादी राष्ट्र आधारभूत सिद्धांतों और धार्मिक आडंबर को पुनरुज्जीवित तथा पुनः स्थापित कर रहा हैं। कश्मीर के उदारवादी वर्ग इस व्यापक सर्वग्रासी आग से भारतीय धर्मनिरपेक्ष तथा राष्ट्रवादी खेमों की यथेष्ट रक्षा न कर सके क्योंकि आधारभूत सिद्धांतों की एक खास तरह से की गई व्याख्या का खुला विरोध वे नहीं कर सके। भारत में ही नहीं, दुनिया में और जगहों पर भी देखा गया है कि कट्टरपंथी दल स्थापित होने के लिए फ़ासिस्ट तरीके अपनाने से नहीं हिचकते। कश्मीर से उन्होंने धीरे–धीरे उदार तथा भारतीयता–वादी इकाइयों को खदेड़ दिया। इन इकाइयों में कश्मीरी पंडितों की अल्पसंख्यक जाति प्रमुख है। इस जाति का उन्मूलन विगत पाँच दशकों में नियोजित तरीकों से होता रहा। छह सौ वर्ष पूर्व सिकंदर "बुतशिकन"[1] के शासन में इस जाति का निष्कासन एक बड़े झटके के साथ किया गया था और फिर अगली सदियों में (कुछेक शासकों के उदार शासनकाल को छोड़ कर) होता ही रहा था।

चौदहवीं सदी ईस्वी के अंतिम दशकों से उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशकों तक कश्मीर में हिन्दुओं की संख्या घटते–घटते केवल दसवाँ भाग रह गई थी।[2] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जहाँ देश में जनसंख्या मे वृद्धि होती रही, कश्मीरी हिन्दू आज उतने ही है, जितने 1947 में देश–विभाजन के बाद घाटी में रह रहे थे। अधिकांश लोग समय–समय पर दक्षिण अर्थात् भारत के अन्य राज्यों की ओर पलायन करते गए। कारण था आर्थिक शोषण। पर पिछले दस बारह वर्षों में हुए पलायन के कारण केवल धार्मिक थे।

इस अंधेरे युग में निस्संदेह चौदहवीं शती के राजा ज़ैनुलाबिदीन एक अपवाद हैं, जिन्होंने मंत्री श्री भटट् की प्रेरणा से विस्थापितों को वापिस बुलवाया और ज़बर्दस्ती धर्मपरिवर्तन के शिकार लोगों को वापिस हिन्दू बनने की अनुमति दी। ज़ैनुलाबिदीन, सिकंदर "बुतशिकन"– का दूसरा बेटा था और उसकी इस हरकत पर समकालीन धर्म गुरुओं ने उसे कभी क्षमा नहीं किया। इतिहास के विवरणों से शताब्दियों के पीड़ित कश्मीरी पंडितों के मनोविज्ञान को समझा जा सकता है, जिस के फलस्वरूप वे कई बार विस्थापित और उन्मूलित होते रहे, पर उनका अधिकांश साहित्य अत्याचार के प्रत्यक्ष वर्णन का साहस जुटा नहीं सका।

1. सिकंदर शाह को मूर्तिभंजक (बुतशिकन) की उपाधि दे कर मध्य एशिया से निष्कासित धर्म प्रचारक सैयदों के जत्थे आह्लादित हो उठे थे क्योंकि उस ने "दीन के प्रचार में प्रतिरोधी ब्राहमणों की हत्याएँ करवाईं थी।" (ए हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल इन कश्मीर, आर०के० परिमू, तारीख –ए–फ़रिश्ता का उद्धरण, पु० 124–अनुवादक

2. ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर, पी०एन०के० बामज़ाइ 1962 पु० 626

आज से पहले लिखे गए निर्वासन–साहित्य का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः आज की–सी स्थिति भी पहले नहीं रही। इतिहास के कई बार दोहराए जाने के बावजूद कट्टरपंथ के पास आज जैसे उपकरण हैं वैसे पहले कभी नहीं थे;। आज के से प्रचार–प्रसार के साधन भी पहले उपलब्ध नहीं थे, न अभिव्यक्ति की आज–सी स्वतंत्रता थी।

बहरहाल, कश्मीरी भाषा में अल्पसंख्यकों के वर्तमान विस्थापन का पूर्वाभास नवें दशक (1980-90) के दौरान होने लगा था, जब लेखकों ने तेज़ी से हो रहे इस्लामीकरण तथा व्यवस्था की नाकाफ़ी प्रतिक्रिया के बीच पिस रहे आम आदमी की मानसिक यातना का चित्रण किया। मोती लाल "नाज़", मोहन लाल आश, चमनलाल "चमन", मोतीलाल "साक़ी" की कविताओं; मोतीलाल क्यमू के नाटकों; हरिकृष्ण कौल, हदय कौल भारती, अवतार कृष्ण "रहबर" तथा रतनलाल शांत की कहानियों में अल्पसंख्यकों की असुरक्षा, भय और संदिग्ध भविष्य की भयावह आशंकाओं का चित्रण मिलता है। इस से लेखकों के दृष्टा–व्यक्तित्व का अंदाज़ा भी होता है और किसी हद तक उस नियति का भी जिसे भोगने को कश्मीर अभिशप्त लगता था। जब कठमुल्लेपन का बोलबाला हो तथा इसे रुतबे, धन और प्रतिष्ठा पाने के उपकरण के रूप में सार्वभौम मान्यता मिलने लगे, तो मानव मात्र के दुख–सुख का चित्रकार सरलताओं तथा सरलीकृत सामान्यताओं को भेद कर उनके पीछे छिपे सत्यों तक पहुँचना चाहता हैं। जब प्रशासन केवल सामयिक लाभ तथा निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए धीरे–धीरे दबाव में आकर झुकता ही चला जाए तो समाज–चेतन लेखक को पीड़ा होती है। उपर्युक्त लेखकों के लेखन में उन मूल्यों के स्खलन की पीड़ा बोलती है जिन के बल पर एक न्यायसंगत व्यवस्था चल सकती थी। साथ ही यह लेखन उस भावी विस्फोट के बारे में संवेदनशील पाठक को सावधान करता है जिसकी संभावना 1990 तक अनदेखी की जाती रही क्योंकि उस ने भयंकर आयाम धारण नहीं किए थे,। पर बाद में वह इतना व्यापक और सार्वकालिक हुआ कि उपेक्षित नहीं किया जा सका। इस लेखन में विशेषकर "रहबर", भारती, कौल तथा शांत की कहानियों (उदाहरण के तौर पर क्रमशः "मूल", "मलबे का कुता", "उस पार की दीवाली" तथा "बर्फ" में) स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि यद्यपि कश्मीर में उभर रहे आतंकवाद की भयंकरता आम आदमी के लिए अपरिचित नहीं, पर व्यवस्था और शासन इसे जान कर अनजान बन रहे है। इससे कश्मीर में सांप्रदायिक सद्भाव का संतुलन बिगड़ेगा, कुछ ऐतिहासिक विडंबनाएँ सच साबित होंगी तथा परिणामतः अल्पमत को व्यापक रूप में रौंधा जाएगा – इस आशय की भविष्यवाणियाँ करता है उपर्युक्त लेखकों का पिछले एक दशक का कहानी–साहित्य।

कहानी के अतिरिक्त नाटक में भी परोक्ष रूप में संकेत दिए जाते रहे। "हाय' मुझे क्या हुआ?" तथा 'उदास नगर' नाटकों में मोतीलाल क्यमू ने दिखाया कि किस प्रकार जान बूझ कर ऐतिहासिक गलतियों को दुहराने दिया जा रहा है और इस प्रकार आत्मदोहन ही नहीं, एक सामूहिक आत्महत्या का वातावरण भी तैयार किया जा रहा है। कश्मीर में जब–जब व्यवस्था संवेदनहीन हुई तथा सामान्य जन आत्म केंद्रित हुआ, तब–तब धार्मिक कट्टरता बहुसंख्यक होती गई तथा बौद्धिकता और मानवता अल्पमत में रह गई। कहानी हो या नाटक दोनों में बौद्धिकता तथा सद्भावना का ऐसा विवेकी स्वर भी अल्पसंख्यक था। ऐसा बहुत ही

अप्रिय और अयाचित था पर हक़ीकत यही थी।

विस्थापन का दंश सब से तीव्र रूप में कविता ने प्रकट किया। विस्थापन से पूर्व (अर्थात् 1990 से पूर्व) और इस घटना के दौरान कश्मीरी साहित्य की इसी विधा में सब से अधिक रचना हुई। फिर यह भी सच है कि कहानी या नाटक रचना, समय–साध्य है। कवि जिस प्रकार अनायास पुकार उठता है, कहांनीकार उसी प्रकार संक्षिप्त संकेत में बात करके संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं पा सकता।

आतंकवाद का पहला आभास हत्या और लूटमार में मिला। पहले शिकार थे अल्पसंख्यक बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ, जिन का एकमात्र दोष यह था कि वे कट्टरपंथी मत से असहमत थे। असहमति को समूल नष्ट करने के इस अभियान में लोकतांत्रिक जड़ों में उगा सुनहरा भविष्य अकाल मिट गया। कवि वेदना से तड़प उठा :-

हाय, सुनहरी धरा खून से लाल हुई, क्या लिखूँ ग़जल।
रात वसंती यह, पहाड़–सी भार हुई, क्या लिखूँ ग़जल। – मोतीलाल साक़ी
वही कालिमामयी रात है वही भयानक अंधियांरा
वही प्रलय आया फिर त्रासद वह अरिष्ट वह ग्रहपीड़ा। – शंभुनाथ भटट् ''हलीम''

निरभ्र वज्रपात से जब आम आदमी झकझोरा जाए तो उस की भाषा और उस का मुहावरा पांरपरिक हो कर भी नई अभिव्यक्ति करती है। कवि ने आम जन के ऐतिहासिक भय को ही स्वर दिया है।

सदियों से कश्मीर के अल्पसंख्यक, हिंसक राजनीति से अलग रहे थे और रचनात्मक तथा अखिल भारतीय स्वरूप वाली राजनीति को कियात्मक–बौद्धिक सहयोग देते रहे थे। अपनी इस अभिवृत्ति को जानते हुए वे समझ नहीं पा रहे थे कि आतंकवाद उन को अपने क्रोध का लक्ष्य क्योंकर बना सकता हैं। अधिसंख्य लेखकों और राजनीतिज्ञों ने हमेशा उन की रचनात्मक भूमिका को स्वीकारा था। शेख अब्दुल्ला ने 'आटे में नमक' की तरह उन्हें आवश्यक बताया था। धार्मिक नेताओं ने 'अकलियतों' की हिफाजत को' अपना 'अकीदा' बताया था। फिर भी वही हुआ जिस की प्रच्छन्न योजना सीमा–पार बनी थी। राजनीतिज्ञों तथा बुद्धिजीवियों के साथ ही सामान्य जनों की भी हत्याएँ होने लगीं। अध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, केन्द्रीय सरकारी कर्मचारी, अमीर–गरीब, यहॉं तक कि यार–दोस्तों को भी उग्रवादियों ने क्रमबद्ध ढंग से गोली का निशाना बनाया। अल्पसंख्यकों को समाचार पत्रों के द्वारा [1] खुले आम 'कश्मीर छोड़ने वरन जान से हाथ धोने' का भय दिया गया। इश्तहारों, अनाम चिट्ठियों तथा व्यक्तिगत धौंस द्वारा उन के सामने तीन विकल्प रखे गये – 'रलें' (मिलकर भारत–विरोधी आतंकवाद का साथ दें), या 'गलें' (मर जाऍं), या 'चलें' (भाग जाऍं)। परिणाम यह हुआ कि हजारों लोग जान बचाने

---

1 11 अप्रैल 1990 को कश्मीर के स्थानीय दैनिक 'अलसफा' में कश्मीरी पंडितों को दो दिन के अंदर भाग जाने की धमकी दी गई।

के लिए जम्मू तथा अन्य राज्यों के शहरों–गाँवों में चले आए। भागते लोगों के ये काफिले 1947 के पाकिस्तानी शरणर्थियों के काफिलों की याद दिलाते थे। कवि सोमनाथ 'वीर' ने लीखा :

नब्बे की ग्रहपीड़ा छाई, दुराचार,
भाग–भाग भट–ब्राह्यण आए।
दक्षिण में 'खन्नाबल'[1] के उत्तर में 'खादनयार'[2] के
भाग–भाग भट–ब्राह्यण आए।
समय बदलता तोड़ गया विश्वास सभी
जिस ने सीखा बैठ हमारे पास कभी
उसी ने किया आज हमीं से अपव्यवहार
भाग भाग भट, ब्राह्यण आए।

स्थिति विद्रूप हो उठी थी। कवियों ने विरोध और विषमता को भोगा और उसे अभिव्यक्त किया। यह भी हुआ कि इस वैषम्य तथा मानवता के घातक रुझान ने कश्मीरी भाषा को कई नए हस्ताक्षर दिए। इन की कविता में हमें बीभत्स स्थिति का दंभहीन वर्णन मिलता है। विमला ऐमा एक ऐसा ही हस्ताक्षर हैः–

लावारिस लाशों का ढेर
बांहें कटीं किन्हीं की, कुछ के पैर कटे
कई चिरी हैं आरे से
लकड़ी भी इस निर्ममता से नहीं चीरते। – (करवट)

इसी तरह रत्नलाल 'जौहर' कहते हैः

पीछे से आ कर पीठ में छुरा घोंपा
और मुस्करा कर की सामने से अगवानी। – (प्रेरणा)

आडंबरहीन शब्दावली में बात को प्रखरता से बयान करने की क्षमता इन नए कवियों में है। धर्मांधता से प्रेरित नृशंसता की कुरूपता ने घाटी की जिन्दगी को असंतुलित कर दिया था। इस ने नए–पुराने कवियों को झकझोर डाला। स्व० मोतीलाल 'साकी' ने घाटी में मानव–विरोधी शक्तियों के उच्छृंखल हो जाने तथा उस के फलस्वरूप मासूम लोगों की दुर्दशा का सब से ज्यादा और सब से खुला वर्णन किया है। इस प्रसंग में 'मरसिया' उन की सर्वाधिक चर्चित लंबी कविता है। इस में उन्होंने जन्मभूमि के अपने घोंसलों से उजड़ कर आए और गर्म तपते ऊसरों में रह रहे विस्थापितों का वर्णन निजी मुहावरा गढ़ कर किया है। विस्थापितों का पूर्वजीवन और उन के सांस्कृतिक सरोकार सब इस भयानक त्रासदी का शिकार हुए और अंततः वे धुरीहीन ग्रहों की तरह अनिश्चय के वातचक्र में उठाए–पटके जा रहे हैं।

1-2 स्थानों के नाम

दूसरी ओर है भ्रष्टाचार पर पलती दफ्तरशाही, जो दूसरों की यातना में अपने जीवन का उन्नयन समझती है। अधिकांश विस्थापित जम्मू में रहते हैं और इस पर राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षकों ने यथेष्ट बौद्धिक सहानुभूति प्रकट की है, यद्यपि उस का कोई प्रभावी परिणाम नहीं निकला। अभी तक ठंडे पहाड़ों के निवासी तपती जमीन पर झुलस रहे हैं और जन्मभूमि लौटने के सपने देख रहे हैं।

अधिकांश कवियों ने कश्मीर के विस्थापन के दर्द में स्थानीय सीमाओं को लाँघने की शक्ति देखी है और इस दर्द के जवाब में देशी निष्क्रियता और संवेग–शून्यता पर आक्रोश प्रकट किया है। वे समझते हैं कि यह विस्थापन पूरे देश को चेतावनी है कि विदेशी षडयंत्र सफल हो रहा है और उसे अभी भी अनदेखा किया जा रहा है। उन्हें आश्चर्य है कि स्थिति को इस बिन्दु तक पहुंचने क्यों दिया गया। जिस बल ने कश्मीरी पंडितों को पलायन पर विवश किया वह अचानक आसमान से नहीं उतराः

असुरों ने हम को भगाया और हम घर–बार छोड़ कर चले आए
कैसा भला–सा था कश्मीर
कैसी उस की दुर्गत हुई ....
जल्लाद और मज़हबज़दा एक हो गए
ऐसी छाई धुंध कि दुनिया ढक गई
आबशार
और घोंसले
राख कर दिए गए। – (***हमारा सफर*** परमेश्वरी केनू)

अलगाववादी तथाकथित आदर्श मान–अधिकारों की प्राप्ति के लिए लूटमार आदि सब कुछ घोषित रूप में उचित समझते हैं उन के उन आदर्शों में एक है 'आजादी'। वस्तुतः कश्मीर में उग्रवाद की शुरूआत ही 'आजादी' के मोहक लेकिन छद्म नारे से हुई, जिस से सर्वसाधारण बाढ़ में पड़े तिनके–सा बह गया। वास्तविकता क्या थी?

आँख जुबाँ औ' कान बंद हैं, कहते हैं यह 'आज़ादी' है।
थर–थर काँपे अंग–अंग है, कहते हैं यह 'आज़ादी' है।।
रोक लगी है साँसों पर, मर रहे भूख से लोग मगर
गोद नसीब नहीं बच्चों को, कहते हैं यह आज़ादी है। (***आज़ादी,*** विजय माम)

जैसा कि ऊपर 'साकी' की कविताओं से स्पष्ट है, विस्थापित कवियों को अपनी बदहाल आर्थिक स्थिति की उतनी चिन्ता नहीं जितनी कि इस बात की कि उग्रवाद 'कश्मीरियत' के उत्थान का प्रचार तो कर रहा है, पर अमल उस का संस्कृति–विरोधी है। 'कश्मीरियत' का अर्थ कश्मीर को एक रंगे कट्टरवाद में रंगना किया गया, जिस से कश्मीर की तमाम सांस्कृतिक

विरासत मटियामेट हो जाए। लगता है कि मध्यकाल में कश्मीर को खूँरेज़ी और लूटपाट से तबाह कर देने वाले मध्य एशियाई लूटेरे 'ज़ुल्चू' की पीढ़ी जवान हो गई और अतीत में धार्मिक सहिष्णुता और सांझी सांस्कृतिक यात्रा के जितने भी मील के पत्थर खड़े किए गए थे उन्हें ढहा कर ही यह दम लेगी :

कब तक रहते साहस कर के
किस की दया के सहारे रहते?
आज बढ़ गई प्यास खून की "मिहिर कुल" की
जवान हो गई है ज़ुल्चू की पीढ़ी
सूख गया स्रोत 'ललमाता'[1] की चंद्रकलाओं का
शेखुल आलम निकल भागा है "च्रार" से
काँपने लगी है अब रूह–ए–बडशाह
'कुदगोजवारी' की गर्दन तोड़ी ही थी
हो गया वितस्ता का पानी बदरंग .... (***कभी सुबह होगी :-*** 'साकी')

कश्मीर का विस्थापित कवि इस्लामी कट्टरपंथ से पीड़ित होने के बावजूद तमाम किस्म की सांप्रदायिक भावना से नफरत करता है :-

अंग–अंग मेरा पीड़ित है भागलपुर से
मेरठ में मुझ को ही दी जानी थी सूली
जहां हुआ अन्याय, अनय ने मेरी बलि ली
गाज़ा पट्टी में जो खून गिरा, वह मेरा,
अंधकार कितना व्यापक होता जाता है
ईश्वर ही जाने, क्या होगा फिर प्रभात भी? ***(कभी सुबह होगी)***

इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि कश्मीर में आज के अल्पसंख्यक जब बहुसंख्यक थे तो उन्होंने सांप्रदायिक दंगे कराये या फिर आज के अल्पसंख्यक ने कभी सांप्रदायिक अतिचार का सांप्रदायिक उत्तर दिया हो। यही कारण है कि आज विस्थापन–कविता में अपने दुख या अपनी नियति का रोना तो रोया गया, पर इसमें क्रोध या प्रतिकार का एक भी स्वर नहीं मिलता।

---

1 'कश्मीर' में सांप्रदायिक सहनशीलता तथा सांस्कृतिक एकता के प्रकाश स्तंभ हैं आदि कवयित्री ललेश्वरी जिस ने परवर्ती संत सूफी कवि शेखुल आलम (शेख नूरुद्दीन) को छाती का दूध पिलाया, और जैनुलाबिदीन, जिन्हें हिन्दू तथा मुसलमान आदर से बडशाह अर्थात बड़ा बादशाह कहते थे। कुद गोजवारी एक मुसलमान कर्मचारी थे जिन्हें एक त्रस्त हिदू परिवार को शरण देने का दोषी पाया जाकर शासक का कोपभाजन होना पड़ा था।

कश्मीरवासी अल्पसंख्यक धर्मान्ध आतंकवाद के कारण भूमि, इतिहास, संस्कृति और परंपरा से विच्छिन्न हो गया है, पर कश्मीर से विस्थापित व्यक्ति अपने मूल्यों की संपत्ति से स्वयं को विच्छिन्न नहीं कर पा रहा और समझ रहा है कि ये ही मूल्य उस के भविष्य की ज़मानत हैं। प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान आलोचक भाषाविद और कवि पृथ्वीनाथ 'पुष्प' का यह भी विश्वास था कि समकालीन धर्मान्धता और कट्टरवाद देख कर प्रसिद्ध मुसलमान संतों (और प्रचारकों) 'शाह हमदान' तथा 'मखदूम साहब' की रूहें चिन्ताकुल होंगीः

त्राहि–त्राहि पछताते होंगे
चिन्तित 'शाह हमदान साहब'
क्या मैंने कहा, और
क्या कर रहे हैं ये!
फैलता चला है ये द्रवणशील खून
बंजर का अंग–अंग पिरा रहा
मखदूम साहब! कब तक चुप साधोगे?
ऑखें खुली हैं
पर होंठ सी रखे हैं – ***(होठ सिले हैं)***

कश्मीर की धरती ऐसी थी जहॉ–
सॉप का जहर वश में किया केसर के फूल ने
संतों फकीरों ने नहीं भटकाया कभी
लल्लेश्वरी मॉ के समान,
'नंदु ऋषि' ऋषि थे, सभी के बाबा थे।
अरनिमाल और हब्बा के सुर में सुर मिलते थे
गाते थे आपस में विरह–गीत मिल जुल कर। (*वहॉ क्या आओगे,* **'हलीम'**)

कवि **प्यारे 'हताश'** को पश्चाताप हो रहा है कि हमारी सांझी संस्कृति के जो प्रकाश स्तंभ थे, जो हमारे लक्ष्य (निशाना) थे, जो सदा हमारे दिग्दर्शक रहे, वे ही खो गए तो हम इस अभाव की स्थिति में किन नए पड़ावों की खोज करें? हमारी दिशा क्या होगी जबकि हमारी पूँजी ही हम से छिन गई है :–

खो गया अपना नामो–निशान भाइयो
कहाँ ढूँढे आशियाना भाइयो?
लौट आएगी दिल में गर्मी कभी?
गया पुराना अब ज़माना भाइयो?

अरिनि और हीमाल, लल्लेश्वरी,
खो गया 'जून[1] का भी फसाना, भाइयो।' *(गज़ल)*

संस्कृति परंपराओं के अतिरिक्त, भूमि से, भूगोल से और वातावरण से जुड़ी होती है। परंपरा की चेतना केवल संवेदनशील मानस को होती है, पर घर–आँगन–बगिया का एहसास सब को होता है। कश्मीर का विस्थापित आँगन के चिनार की छाया में, धीर प्रशांत वितस्ता के किनारे, हिमकिरीट पहाड़ों के दामन में और शीतल सुरभित ऋतुओं में पला बढ़ा है। अब जो इसे एक झटके में इन सब से अलग कर दिया गया तो वह केवल स्मृति के सहारे जीने को अभिशप्त है। प्रत्यक्ष में जो उपलब्ध नहीं वह फंतासियों में पाने का उपक्रम करता है। उसे विश्वास है कि एक दिन माँ कश्मीर उसे जरूर बुलावा भेजेगी क्योंकि माँ से उस की संतान का दुख देखा नहीं जा रहा होगा। कवयित्री फंतासी में जीते हुए माँ से कहती है:

उठो करो स्वागत सब का माथा चूमो
प्यार तुम्हारा खींच रहा है, सब दौड़े आए हैं
और चिनारों की शीतल छाया को अकुलाए हैं
नहीं भुलाना इन को ऐ माँ! नहीं इन्हें बिसराना
नहीं रुलाना
तेरी ही संतान, तुम्हारे ही बच्चे हैं। – *'पुकार,* **कृष्णा कौल'**

वरिष्ठ कवि अर्जुन देव **'मजबूर'** भी *'आग और शीतलता'* में फंतासी का वातावरण गढ़ते हैं और उम्मीद करते हैं कि आग और द्वेष के वातावरण में भी मनुष्यता कभी सिर उठाएगी। मनुष्य जब जानेगा तो–

आग उगलते लम्हों को वह
एक कलम से रद्द करेगा,
निगलेगा (दारुणतम) लोहा
'वस्तरवन' को सींच दुबारा जीवन पाओ
भले आग के मूसल (बरसें)
गले मिलो इन से और' लो मशाल हाथों में
ऐसा नाचो नाच
कि मेरा घुटा–घुटा अस्तित्व अचानक
दीपक की लौ में अपना चेहरा पहचाने...............

---

1 हब्बा खातुन–कश्मीर की महारानी प्रसिद्ध विरह गीतकार (17 वीं सदी)। 'जून' उस का विवाहपूर्व नाम था।

विश्व के इतिहास में इस प्रकार के संकेत स्थान–स्थान पर मिलते हैं कि निर्वासित और विस्थापित जातियाँ वापस जाने का सपना अमूल्य संपत्ति की तरह सँभाले रही हैं। यहूदी हों चाहे फिलिस्तीनी, पारसी हों चाहे कश्मीरी पंडित, जन्मभूमि से दूर रहे शरणार्थी अपने वतन लौटने के सपनों के सहारे जीवित रह रहे हैं। पर पंडितों की तरह अपनी ही भूमि में, अपने ही देश में शरणार्थीयों का जीवन जी रही जातियों की बिडंबना और भी त्रासद होती है। उन के सपनों में जन्मभूमि से छूटने और अपने देश में सहानुभूतिहीन वातावरण में रहने की विडंबना स्पष्ट उभरती है। इस से उन की कविता में एक साथ आर्द्रता और हताशा के विरोधी स्वर सुनाई देते हैं, और कभी–कभी संकल्प भी :

खुद उपाय करने होंगे वापिस जो हम को जाना है
कमर कसेंगे उद्‌य होंगे, सब को साथ निभाना है। (*पुकार*, **शिबन मल्ला**)

अभी कह गया कोई ये छप्पर भी ले जाएँगे
चिन्ता उस की लगी कि जिस की आशा पर पलते हैं।
भाग हमारे कमलताल भी और धूप भी तेज़
यों अकाल कुसुमों से अपना दामन हम भरते हैं। – (*गजल*, **'साकी'**)

घर घोंसले का छिन जाना कवि को इसलिए असह्य पीड़ा पहुँचाता है क्योंकि –

घर इतिहास होता है, मूल्यों का पहरेदार
रीत–परंपरा का एक अक्षय कोष
यादों का पलना, स्मृतियों का पीहर
मर्यादाओं की फुलवारी ....
की कद्र नहीं जानें जिन्होंने घर खोया हो ....

पर सबसे ज्यादा पीड़ा उस बात से होती है कि इस देश में हम जैसे भुक्तभोगी लोग भी हमारी वस्तु स्थिति के दंश को अनुभव नहीं करते। रत्नलाल 'जौहर' इस विरोधाभास से तिलमिला जाते हैं और उनका स्वर तीक्ष्ण हो उठता है। हमारी संस्कृति और परंपरा को विच्छिन्न कर देने वाले को अपनी सांस्कृतिक निरंतरता का हवाला देते हैं –

मैं जिदां हूं फिर भी, यह सच्चाई तेरे सीने पर जैसे चट्टान धरी
मुझे मार डालने की तैयारी में तू व्यस्त रातदिन है
पर मारोगे कितनी बार?
थक कर खुद जाओगे हार

काटते जाओगे मुझको, पर लूंगा
नया जनम हर बार!

और अब एक प्रतीक्षा है, एक अंतहीन प्रतीक्षा। इस प्रतीक्षा के दो पहलू उभरते हैं। एक है नए कहानीकारों के भावबोध का। इन में वर्तमान गहन अंधेरे में तैर रही भयंकर छायाओं को पहचानने की आकुलता है पर उतावली नहीं। इनकी नजरें यथार्थ के घिनौने रूप को भेद कर उस पार की वास्तविकता समझना चाहती हैं। जहाँ हृदयकौल भारती अवतार कृष्ण रह बर, हरिकृष्ण कौल की कहानियों में दृश्यमान वास्तविकता के आंतरिक और बाह्य विरोध कथ्य में तनाव पैदा करते हैं वहां विजय माम की कहानियों में कथ्य का मूलभूत तनाव ही वास्तविकता का विद्रूप उजागर करता है। उनकी कहानियों की दुनिया में आतंकवाद के कारण कश्मीर के जीवन में आई असहजताएं चरित्रों के व्यक्तित्व को बांट कर टुकड़े टुकड़े करती है। 'कऽह्य कास' और 'सम्हारुक नाच–तांडव' (अभाव और संहार का नृत्य : तांडव) इस प्रंसग में दृश्य हैं। इन में व्यक्ति एक अकारण परन्तु सुनियोजित बाढ़ में बहता हुआ, किनारों पर जंगली कुत्तों के मुखौटे पहने अपने बचपन और यौवन के साथियों को देखता है। डरावनी तस्वीरों की ये कहानियां घरों से निकाले गए कश्मीरियों के दुरस्वप्न की दास्तानें हैं और तमाम अरूपताओं के बावजूद बहुत आसानी से वस्तु स्थति पर लागू होती हैं। कभी लगता है कि इंतजार करना बाढ़ में बहते हुए निरीह निवासियों की नियति है।

प्रतीक्षा (इतंजार) का दूसरा रुख स्व० प्रो० पुष्प जैसे अनुभवी कवियों में मिलता है। प्रतीक्षा मृगछाया की तरह रूप बदलती हुई, हर घड़ी हमारे साहस का निर्मम इम्तहान लेती हुई। इस प्रतीक्षा को उन्होंने यों स्वर दिया है –

करते रहे हम इंतजार बस इंतजार
और आसमानों के आगे बस फैलाए हाथ रहे।
कैसे नहीं खत्म हो जाता चुक कर मनसर का पानी
रेगिस्तान सींचने की हमने थी ठानी
ली थी खुद अपने सिर ज़िम्मेवारी !

रेगिस्तान में फल के पेड़ बोने की मूर्खता के प्रति आज से छः सौ साल पहले आदि कवयित्री ललेश्वरी ने भी हमें चेताया था पर भारतीय मुख्यधारा से जुड़ी जाति अपनी सहज संस्कृति से अन्यथा आचरण नहीं कर सकी। उसने ज्ञान का प्रकाश भी फैलाया लेकिन किसी को इस प्रकाश से चौंधियाया नहीं। समय के फेर से वह उपेक्षित हो गई पर अपनी सांस्कृतिक साहित्यिक विरासत के सहारे फिर अपने पैर टेकेगी और अपने सहज अस्तित्व की रक्षा करेगी। इस बात का विश्वास निर्वासन की इन घडियों में रचा जा रहा साहित्य हमें दिला रहा है।

आज की स्थिति में विरोधाभास अंतर्हित है। अधिकांश विस्थापित किसी भी प्रकार घर लौटना चाहते हैं, पर राजनीति और आतंकवाद में एक अकथित समझौता लगता है जिस के

परिणामस्वरूप न तो आतंकवाद का कोई अंत नज़र आ रहा है और न ही विस्थापितों के वतन लौटने की कोई उम्मीद। ऐसे में जो उतावली में बे–सोचे–समझे खुशफहमियां पाल रहे हैं उन के लिए कवि चेतावनी देते हैं:

वापिस (घर) जाने की तुझ में ललक बढ़ी है
जन्मभूमि पर प्यार आए यह स्वाभाविक है
भूमि कि जिस पर फसल प्यार की उगती थी
हवा जहाँ शीतल करती थी दाग आग के,
प्यास जनम की एक घूँट से बुझ जाती थी..................................
वहीं लौट जाने को तेरा मन तरसे है,
लेकिन बदले रंग वहाँ के देखे जो तू–
धुँधलाया आकाश रो रहा शाम–ओ–सुबह..................(*वहाँ क्या पाओगे?*, **'हलीम'**)

विरोधाभास में विस्थापित जी रहे हैं, विरोधाभास को कवि झेल रहे हैं और जैसे भी हो अपने भावों को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। अभी न तो स्थिति किसी निर्णायक दौर में प्रवेश करती लग रही है और न ही विस्थापन के संकट का अंत नज़र आ रहा है। ऐसा लगता है कि बीसवीं सदी के नवें दसवें दशक के घटनाक्रम ने कश्मीरी लेखक को इस शिद्दत के साथ झकझोर डाला है कि उसे यह बहुत समय तक प्रभावित करता रहेगा। इस प्रकार कश्मीरी साहित्य में 'विस्थापन साहित्य' ऐतिहासिक अभिलेख की तरह संवेदनशील पाठक – समीक्षक को इस अँधेरे युग की याद दिलाता रहेगा। और यह साक्षी रहेगा विषम परिस्थिति में लेखक के साहस का।

(इस प्रबंधं में उद्धृत अधिकांश कविताएं मासिक *कॉशुर समाचार* दिल्ली में प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत लेखक द्वारा।)

●

आज बुढ़ापे बीच "पोशिकुज" लिए पोटली
कूबड़ मटकाती और घर घर भटक रही है।

मेरे चेहरे से बोलो क्या हाल मेरा पढ पाओगे?
हो सकती अभिव्यक्ति जगत के समय की कभी?
–गुलाम रसूल संतोष
(1929-1996)

(पोशिकुज=किसी बूढ़ी पंडितानी का नाम)

खेतों, हरियर मैदानों में बोएं रेत
हम्द, मुझे चीड़ों की छांह न आई रास।

*

अब चांडाल बचे या कब्र खोदने वाले
हम्द, सब मेरे जितने भी थे नब्ज़–शिनास।
–अमीन कामिल (1924
हम्द= धन्य प्रभु का
नब्ज–शिनास=नाड़ी समझने वाले)

हिन्दी की साहित्येतर सामग्री के कश्मीरी में अनुवाद की समस्याएं

चेतना : जरूरत की चेतना

भाषाएं, सामान्य शब्दावली, नाम पद्धति (nomenclature) संवेदक अर्थ बाहुल्य और सटीक प्रयोग क्षमता की दृष्टि से समृद्ध होती हैं। फिर भी उनकी परस्पर निर्भरता बढ़ती जाती है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और विज्ञान के केंद्र विभिन्न भाषा – केंद्र होते हैं, चिंतन, खोज और व्याख्या–पुनरीक्षण (review) विभिन्न भाषाओं में होता है इसलिए लेन देन की प्रकिया लगातार चलती है। इस लिहाज से कश्मीरी जैसी भाषा की हालत दयनीय है। इसमें मौलिक साहित्येतर चिंतन (और साहित्यिक चिंतन भी) नहीं के बराबर होता है इसलिए यह भाषा क्या दे सकती है अभी तो लेने के लिए न तय्यार है और न ही उस जरूरत के प्रति पूरी तरह सचेत। अभी इस भाषा में, दूसरी बेहतर स्थिति वाली भाषाओं से अनुवाद करने का काम गंभीरता से शुरू नहीं हुआ है। साहित्य के अनुवाद हुए हैं पर इतर क्षेत्र सूखा पड़ा है। लगता है कि यह भाषा ऐसे अनुवाद की जरूरत से दो–चार ही नहीं हुई है। जरूरत तब पैदा होती जब इस भाषा को शिक्षा संस्थाओं में ले जाया जाता। पहले पाठ्यपुस्तकों की जरूरत होती है, जिससे विकासशील मन को विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों में निजी भाषा में पढ़ने सोचने की आदत पड़ती है, और अतिरिक्त पठन की मांग जन्म लेती है। मौलिक चिंतन तो बाद की बात है। पाठक, पहले सिद्धांत को, मन के शीशे में उतार लेता है और मातृभाषा में तथ्य का अनुसंधान और पुनर्व्याख्या करने की स्थिति में हो जाता है। कश्मीरी के संदर्भ में हालत यह है कि अभी यहां मातृभाषा में ज्ञान–विज्ञान पाने की चेतना ने भी जन्म नहीं लिया है इसलिए इस दिशा में कोई काम नहीं हुआ है। अनुवाद की आवश्यता हमें प्रेरित जरूर करेगी, पहले इस आवश्यकता की चेतना तो हो।

यह दशा आशाजनक नहीं है पर स्थिति यही रहेगी, ऐसा भी नहीं। कश्मीरी लाखों लोगों की जबान है और ये लोग इस माध्यम से पढ़ना, लिखना और सोचना चाहेंगे। तब अनूदित ग्रंथों की जरूरत होगी। इस विकासशील प्रदेश की भाषा चेतना लौटेगी–या जरूरत की चेतना होगी।

समस्याओं का अंदाजा

हम हिन्दी से अनुवाद की समस्याओं से अभी दोचार नहीं हैं क्योंकि कश्मीरी में 'इतर' साहित्य के जितने भी अनुवाद हुए हैं (भले ही उन्हें अनुवाद न कहा गया हो) उनमें अधिकांश हिन्दी से नहीं ही हुए हैं,। हिन्दी के आधार पर शब्दावली भले ही गढ़ी गई हो। पर चूंकि खोज और अध्ययन का यह क्षेत्र पछूता पड़ा है इसलिए इसकी समस्याओं का अदांज़ा हो सकता है। विज्ञान के संबंध में बात वाक्यरचना से ज्यादा शब्द निर्माण और शब्दार्थ संबंध पर आती है। इसलिए हम प्रस्तुत समस्या को इन संदर्भो में देख सकते हैं। इस प्रकार के कुछ कार्यो के साथ मेरा संबंध रहा है इसलिए मेरा अपना अनुभव भी मेरी बहस की बुनियाद हो सकता है।

अंग्रेजी से विज्ञान और हिंदी से मानविकी

सवाल पैदा होता है कि जब कश्मीरी के लिए अंग्रेजी उर्दू या हिंदी एक जैसी दूरी पर खड़ी हैं तो तकनीकी अनुवाद सीधे अंग्रेजी से ही न करके ऐसी भाषाओं से क्यों करें जो खुद अंग्रेजी से उधार लेकर खाती हैं। इस विषय के पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए जाते हैं। हिन्दी समेत आधुनिक भारतीय भाषाएं सबसे ज्यादा अंग्रेजी के सम्पर्क में आयीं। और अंग्रेजी, साहित्य तथा इतर क्षेत्रों में समृद्ध भी है तथा सुलभ और सुगम भी। हिन्दी इस समय मौलिक वैज्ञानिक चिंतन का स्वतंत्र माध्यम बन कर उभरी नहीं है कि इसे अनुकरणीय माना जाय। हिन्दी से अनुवाद करना, अनुवाद का अनुवाद करने के समान होगा, जो मूल से दूरतर पड़ेगा। इस तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि भारत पश्चिमाभिभूत दुनिया में अपनी अलग अस्मिता की खोज में है। जिस प्रकार यूरोपी भाषाएं तकरीबन एक ही (wave length) वेव लेंथ पर दोलायित होती हैं उसी तरह भारतीय भाषाओं के तकनीकी चिंतन का एक समीकरण दिखाई पड़ने लगा है। कश्मीरी भाषा, साहित्य और साहित्येतर, दोनों लिहाज से अभी इस राष्ट्रीय समीकरण (national equation) में भी ठीक स्थान पर नहीं है। इतर क्षेत्र में वह इनके पहलू में आ बैठने की चेष्टा कर सकती है। भारतीय भाषाओं में प्राकृतिक विज्ञान या प्रौद्यौगिकी (technology) से संबधित संतोषप्रद मौलिक काम नहीं हो रहा है पर सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, राजनीति, इतिहास आदि में भारतीय चिंतन परंपरा की खोज का परिप्रेक्ष्य मौलिक चिंतन के लिए माहौल पैदा कर रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में सीताराम जायसवाल, इतिहास और पुरातत्व में डा० सूर्यकांत, हीरा धी० सांकलिया, जयचंद्र विद्यालंकार, नृत्तव और समाज शास्त्र में राजाराम शास्त्री, दर्शन में भीखनलाल आत्रेय, बलदेव उपाध्याय, गणित में डा० गोरख प्रसाद, वाणिज्य में अमर नाराण अग्रवाल आदि के काम ने इन क्षेत्रों में मौलिक चिंतन के लिए पूर्व–पीठिका तैयार की है। विज्ञान देशकाल से असम्पृक्त होता है पर मानविकी (humanities) देशकाल की सांस्कृतिक पहचान से जुड़ी होती है इसलिए हिन्दी तथा कश्मीरी प्राकृतिक विज्ञान न सही, सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में बृहत्तर भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक दूसरे से फ़ायदा उठा सकती हैं। हिन्दी गणराज्य की एक शासकीय भाषा होने के अलावा एक दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम है। इसमें सैकड़ों ग्रंथ अनूदित हो रहे हैं और पारिभाषिक शब्दावली को काफी प्रचलन प्राप्त हुआ है। पाठ्य पुस्तकों तथा

शोध ग्रंथों में उसका लगातार इस्तेमाल हो रहा है। प्रचलन (currency) से शब्द निखरते हैं। शिक्षामंत्रालय ने जिस पारिभाषिक कोश का प्रकाशन दस वर्ष के काम के बाद 1962 में किया, उससे जुड़े करीब 400 विद्वान ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बंन्ध रखते थे। (इन में डा० एस० कोठारी, प्रो० मुजीब, सुनीति कुमार चटर्जी, जाफर अली खां, 'असर', डा० सिद्धेश्वर वर्मा, अनन्त शयनम आयंगर, डा० जेड० यू० अहमद, डा० तारा चन्द विशेष उल्लेखनीय हैं) विविध भाषा केन्द्रों से विशेषज्ञ लेने का मकसद था हिन्दी को समृद्ध करना और साथ ही दूसरी भारतीय भाषाओं के लिए या तो शब्द सीधे मुहय्या करना या शब्दावली निर्माण का रास्ता दिखाना। कश्मीरी हिन्दी के इस अनुभव से फायदा उठाते हुए ज्यादा सहजता का अनुभव करेगी।

उर्दू आधार के बावजूद हिन्दी मिश्रण

यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि कश्मीरी, शब्दावली और शब्द निर्माण की दृष्टि से फारसी और उर्दू से काफी प्रभावित है। हिन्दी से अनुवाद करते समय एक स्पष्ट भाषिक अलगाव नज़र आता है जो मुश्किल पैदा करता है। फारसी तथा उर्दू का आधार कश्मीरी में पारिभाषिक शब्दावली के गढ़ने में सहायक होता है। उर्दू के बहुत देर से शिक्षा का माध्यम होने के कारण उर्दू–आधारित शब्द ज्यादा आसानी से प्रचलित होता है उर्दू अन्य संस्कृताधारित भारतीय भाषाओं से जरा अलग पड़ती है। सांस्कृतिक कारणों से इसकी प्रवृति फारसी अरबी से शब्द या धातुएं लेने की है। कश्मीरी में उर्दू–आधारित शब्दावली इस प्रवृति का अपवाद बन सकती है क्योंकि यह भाषा संस्कृत की ठोस बुनियाद पर खड़ी है और हिन्दी की साहित्य परम्परा के कई समांतर (parallels) इसमें मौजूद हैं। मसलन, उर्दू भक्ति साहित्य देश व्यापी भक्ति साहित्यधारा से अलग विकसित होता रहा जबकि कश्मीरी में फारसी परम्परा के अलावा भक्ति और नीति साहित्य भी रचा गया। इससे कश्मीरी भाषा में संस्कृत और फारसी दोनों से शब्द ग्रहण करने की क्षमता आ गई। हिन्दी के 'सोखवाद' के लिए कश्मीरी 'सोखवाद' चल सकता है जो सर्वथा संस्कृत है। समलिंगी के लिए 'सोम जिनस्य्' जिस में दोनों भाषाओं का मिश्रण है। ईगोटिज्म (egotism) के लिए 'अहंकार' और (neo-intution) के लिए 'नवीनुँ इल्हाम'।

शब्द निर्माण में हिन्दी से मदद

इतर साहित्य के अनुवाद में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या से पहले सामना होता है फिर उसकी प्रयोग विधि से। हम जानते हैं कि हिन्दी के कई तत्सम या तद्भव शब्द कश्मीरी में पारिभाषिक शब्दों की प्रतिष्ठा पा चुके हैं। इन से संबंधित विषयों के अनुवाद में आसानी पैदा हो सकती है। जैसे समालोचना दर्शन और मनोविज्ञान में ये शब्द 'अकायुत' (अकायत्व) आंकाऽर्य (सकारी) नकाऽर्य (नकारी), प्रावुत (प्राप्ति), अनमान (अनुमान) अनहार (अनुहार) पाऽर्यजान (cognition परिज्ञान) व्लसन (उल्लसन) (motivating) स्यथुर (स्तर) व्वथबव (उद्भव) इकाऽय (इकाई)। कई अन्य शब्द जो अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली से लिए गए

हैं, हिन्दी से होकर ही आए हैं। जैसे चऽखुॅर (cycle) वासना (libido) आदर्श (ideal) पऽश्यमालय (zoophillism) पऽश्य प्राह (zoophobia) त्रास (trauma) प्राकार (pattern) आदि। कई बार हिन्दी–आधारित शब्द कश्मीरी के पारिभाषिक शब्द की अलग–अलग अर्थ छाया को उभारने में सहायक होता है। मनोविज्ञा॰ में hate के लिए 'नफरत' है, पर aversion के लिए 'ग्रुनॅ' (घृणा) और इसी तरह feud के लिए 'रु'श' (ईर्ष्या) मसलन blood feud – खूनॅु रुॅश–सही अर्थछाया को उजागर करने में सहायक होता है। अंग्रेजी के form तथा appearance के लिए कश्मीरी 'हयथ' तथा 'शकॅल' स्वीकृत हुआ है, पर morph के लिए 'रूप' इस भाषा को विस्तार देगा। इस तरह aroma के लिए मुशुॅक, flavour के लिए 'मजुॅ', fragrance के लिए 'ख्वश्बू' odour के लिए 'ब्यय' लेकिन taste के लिए 'स्वाद' या 'साद' हो सकता है। इस प्रकार के शब्दों का निश्चय अंतिम नहीं भी हो पर इस दिशा में एक रास्ता दिखा सकता है।

कोश

हिन्दी से इतर साहित्य का अनुवाद करने के लिए क्या, सृजनात्मक साहित्य अनूदित करने के लिए भी संपूर्ण तथा सम्पन्न कोश नहीं। केंद्रीय हिन्दी निदेशालय ने त्रिभाषा कोश की परियोजना का एक ही भाग प्रकाशित करके उसे अधूरा छोड़ दिया है।

कश्मीरी में गद्य की कमी

अन्त में ग्राहक–भाषा कश्मीरी की ग्राह्यता पर दो बातें। वैज्ञानिक साहित्य में बहुत हद तक व्यक्तिनिष्ठ शब्द चयन अथवा शैली से बचा जाता है। बात सटीक शब्दों में कही जाती है। इसके लिए भाषा में स्पष्टता, सरलता और असंदिग्धता जरूरी होती है। सूत्र कभी पद्य में भी हुआ करते थे। आज गद्य में ही होते हैं। परंतु यह गद्य साहित्यिक नहीं होना चाहिए। (यों तो साहित्यिक गद्य में भी वैज्ञानिक सटीकता (Precision) अच्छी मानी जाती है।) इसमें निर्व्यक्तिक बात कहने की ठंडी असंसक्ति (Dis-involvement) होनी चाहिए। हिंदी में ऐसा मुहावरा अभी पूरी तरह बन नहीं पाया है। पर इस मुहावरे को प्राप्त करने के लिए हिंदी को जिस प्रजनन पीड़ा से गुजरना पड़ रहा है, कश्मीरी भी उस से गुजर कर सही स्थिति तक पहुंच सकती है। इस कारण भी हिंदी से अनुवाद करना लाभकारी होगा, वरना कश्मीरी में कहानी, नाटक का गद्य भी अभी परिनिष्ठित नहीं हो पाया है। आलोचना का भी नहीं। इसमें अंग्रेजी के तकनीकी साहित्य से सीधे अनुवाद करने पर अंग्रेजी के गद्य के मुहावरे को व्याख्यायित या टोनडाउन (Tone down) करना पड़ सकता है जो समस्या सुलझाने के बदले और उलझाएगा। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या हल हो तो हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य का कश्मीरी अनुवाद अपेक्षाकृत ज्यादा आसान और इसलिए उपादेय होगा।

परिशिष्ट

कश्मीर की लोक संस्कृति और लोक परंपराओं के कुछ रेखाचित्र

किसी प्रदेश की लोक संस्कृति का सब से बड़ा प्रमाण वहां के लोक साहित्य में मौजूद होता है। लोक साहित्य अपनी प्रेरणाएँ समवर्ती लोक जीवन से लेता है। कृत्रिमताओं और आरोपित आवरणों से मुक्त लोक जीवन के अनायास अभिव्यक्ति–क्षणों का सम्पुंजन हुआ करता है लोक साहित्य। ये क्षण सुसाध्य और प्रकृत होते हैं, अतः इन्हें साधारण जन की पकड़ में लाने में लोक विश्वास बहुत महत्वपूर्ण काम करते हैं। अधिकांश लोक विश्वास भूगोल की सीमाएँ नहीं जानते लेकिन बहुत से विश्वास सीमाओं का उल्लँघन कर ही नहीं पाते। लोक विश्वासों को स्थानिक वैशिष्ट्य धरती देती है। वह उन्हें निराला बना देती है। धरती केवल भौगोलिक आयामों या जलवायविक विशेषताओं को नहीं कहते–वह ठोस और सरूप होते हुए भी अरूप भावना होती है। और इस तरह लोक–मानस में बसती है, लोक–रक्त में रंगती है और लोक–श्वास में जीवित रहती है। धरती का एक टुकड़ा, एक आँचल इसीलिए पड़ोस के ही दूसरे अँचल से भिन्न होता है और ऐसे बहुत से विश्वासों का वातावरण फैला देता है जो दूसरे अँचल से सर्वथा भिन्न होते हैं।

भारत के शेष प्रदेशों से सांस्कृतिक दृष्टि से कश्मीर कुछ भिन्न सा है। कारण स्पष्ट है–इसकी भौगोलिक स्थिति। पर्वतों से घिरा हुआ यह प्रदेश गर्मियों में भी कम गर्म नहीं रहता लेकिन गर्म मौसम का विस्तार कम ही है। अप्रैल मई से सितंबर तक अच्छी गर्मी रहती है। शेष अवधि या तो सर्दियों का स्वागत करने में तत्पर दिखती है या सर्दियों से घाटी को निकाल कर गर्मियों से अभ्यस्त बनाने में। भौगोलिक भिन्नता के कारण कश्मीरी घरानों में यह समझा

जाता है कि बानिहाल पर्वत से ठस उस पार 'बाहर' है और इस पार 'अन्दर'। अभी भी आप कई सुशिक्षित कश्मीरी सज्जनों से यह सुनेंगे कि "मैं 'बाहर' गया हूं"– यह 'बाहर' जम्मू ही क्यों न हो। भूगोल के इस विभाजन के बावजूद कश्मीर प्राचीन काल से अपने प्राकृतिक सौदर्न्य के कारण समस्त संसार के लिये आकर्षक पर्यटनस्थल रहा है। इस प्रकार कश्मीरी जनता पीरपंचाल की जैसी दीवारों के होते हुए भी संसार के जीवन से परिचित रही है। कश्मीर का लोक–जीवन इस स्थिति में पर्यटकों के सतत आवागमन से अप्रभावित कैसे रह सकता था। देखिये पुरानी पीढ़ी का कश्मीरी किसी भी भारतीय को 'पंजाबी' (अर्थात् अकश्मीरी) कहता है। इस प्रवृत्ति का बड़ा कारण है अन्य प्रांतवासियों का हमारे साथ बोलचाल में हिन्दी माध यम रखना। कश्मीर एक अहिन्दी प्रांत है। लेकिन यहां हर घर में टूटी–फूटी हिन्दी समझी जा सकती है। हमारे घर की माता जी से लेकर अनपढ़ मांझी और मजदूर तक कुछ न कुछ समझ ही लेते हैं। दूसरे अहिन्दी प्रदेशों की जो "बंगाली या हिन्दोस्तानी?" "मराठी या हिन्दोस्तानी" वाली मनोवृत्ति है यहां उसका तिरस्कार है। यह भले ही हो कि हम 'कश्मीरी' और 'पंजाबी' नाम से विभाजन करते हैं। लेकिन ऐसे 'पंजाबी' की कद्र ही होती है। कभी उसका कश्मीरी घराने में निमंत्रण हो तो बहुत ही आदर किया जाता है और जब कोई अकश्मीरी भारतीय कश्मीरी मुहल्ले में रहने लगे तो सभी चाहेंगे कि उनके साथ उनका अच्छे से अच्छा सद्भावनामय सम्बन्ध स्थापित हो। (किसी हद तक कश्मीरियों में इस दृष्टि से हीन भावना भी रहती है।)[1]

इसी प्रकार विदेशी पर्यटकों को, कश्मीरी उन की असली राष्ट्रीयता की उपेक्षा करके 'अंग्रेज' कहेंगे। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि यहां आने वाले सभी यूरोपीय, अमरीकी, रूसी आदि गोरे होते हैं। दूसरे कश्मीरी जनता का सम्पर्क सब से अधिक अंग्रेज–पर्यटकों से रहा है।

पानी ने कश्मीर को एक विशिष्ट रूप दिया है। वितस्ता तथा इसकी सखी नदियों से झील डल, वुलर तथा मानसबल आदि से पानी प्रवाहित होकर घाटी के मान चित्र की रेखाओं में जैसे विभिन्न रंग भर रहा हो। श्रीनगर से करीब 3 मील की दूरी पर शंकराचार्य की पहाड़ी की चोटी से देखने पर हम अनुमान कर सकते हैं कि कश्मीर एक वाटिका है, जिसकी क्यारियों को सींचने के लिए नदी नालों का जाल बिछा है। शहर को जेहलम नदी दो भागों में विभक्त करती है। दस पुल इन भागों को मिलाते हैं। वितस्ता के बहुत धीमी गति से बहने के कारण और यातायात की सुविधाओं के कारण इन दो भागों के वासियों में कोई मानसिक अंतर नहीं पाया जाता। हां, कभी कभी शादी–ब्याह आदि सम्बन्धों के तय करने के समय "इसपार–उसपार" सुनने में आता है। बात यूं है कि जेहलम की दाहिनी ओर वाले शहर का अर्ध, व्यवहारिक दृष्टि से और जनसंख्या की दृष्टि से अधिक व्यस्त है। बाएं हाथ वाला अर्ध अपेक्षाकृत कम। लेकिन यदि हम और आगे सातवें आठवें पुल की ओर जाएं तो वास्तव में इस ओर व्यस्तता उत्तरोत्तर घटती ही नजर आती है। वहां आप आली–शान मकान पाएंगें, विशेष कर नदी के दोनों किनारों पर ऊँचे ऊँचे मकान हैं, जिनका स्थापत्य शतियों पूर्व का है, लेकिन उनमें रहने वाले बहुत

1. इस लेख में आतंकवाद-पुर्व कश्मीरी जनजीवन और सामाजिक-राजनीतिक परिस्थति का संदर्भ लिया गया है।

कम हैं। वास्तव में समय की तेज़ी के साथ बढ़ने के कारण और उद्योगों के केन्द्रों के, कारण शहर उसी ओर बढ़ा है। इसीलिए यह मनोवृत्ति आज भी पाई जाती है कि नई बस्तियों के लोग अधिक सभ्य और आर्थिक दृष्टि से उच्च हैं और इन के मुकाबले में आठवें नवें पुल की ओर रहने वालों को दो तीन दशक पूर्व तक "सरहद के कश्मीरी" कहा जाता है। तब वह अवश्य ही कभी शहर की एक सरहद थी लेकिन न जाने क्यों तब शहर के पूर्व, पश्चिम, तथा दक्षिण की सीमाओं पर रहने वालों को क्यों सरहद के नहीं समझा जाता था। इस सरहद के प्रति लोगों की अलग सोच थी। शादी–ब्याह के सम्बन्ध सरहद वाले शहर के दूसरे भागों मे रहने वालों से करना अधिक उत्तम समझते थे जबकि सरहद वालों से अन्य लोग ऐसा कम ही करते थे। सरहद वालों के मन में हीन–भावना होती थी। अपनी अच्छी से अच्छी, कोलाहल से दूर एकांत जगहों को छोड़ कर वे शहर के भीतर तंगी से रहना ज्यादा अच्छा समझा जाता था। खैर, इसको हम भौगोलिक और ऐतिहासिक आवश्यंभाविता मान सकते हैं। एक उक्ति अभी तक प्रचलित हैं कि, "वुहि र्वपयि सरहदुॅच हून्य दव तुॅ हे'रिम ब्राऽर्य व्वठ"–बीस रुपए में सरहद में कुत्ते की दौड़ (के समान जमीन) और 'ऊपर' (पहले–दूसरे पुल के आस पास) बिलाव की एक छलांग मात्र मिल जाएगी।

'अमीरा कदल' (अर्थात सिविल लाइन्स) तथा नई बस्तियों में आर्थिक दृष्टि से उच्च–मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के तथा शेष शहर के भीतर साधारणतया मध्य तथा निम्नवर्ग के लोग अधिक संख्या में रहते हैं।

इसी प्रकार झील डल और उसके आस–पास रहने वालों के तथा शेष श्रीनगर के लोक जीवन में एक सूक्ष्म अंतर दृष्टिगोचर होता है। झील डल से जुड़ा हुआ शहर का एक महत्वपूर्ण भाग है – रैनावारी। यहां अधिकतर साग सब्जियों की खेती होती है। ऐसे खेतिहरों को 'दांदर' कहा जाता है। यद्यपि खेतिहर तथा साग सब्जी विक्रेता एक नहीं होते तथापि विक्रेताओं को भी 'दांदर' ही कहा जाता है। साधारणतः सरकारी नौकर हों या अन्य, रैनावारी – निवासियों के घरों के साथ ही साग–भाजी की बाड़ी लगी होती थी। ब्याह सम्बन्ध रैनावारी में किया जाए तो लड़की वाले कहते थे कि –"कुछ न हो, हमारी बिटिया के घर सब्जी का अकाल तो नहीं रहेगा।" डल के पानी ने रैनावरी को एक प्राय द्वीप–सा बना दिया है। घरों के निकट डल का कोई नाला होगा ही। इस प्रकार पानी की बहुतायत होते हुए यहां के मकानों की बनावट में कोई विशेषता नहीं है। कोई अंतर भी नहीं शेष शहर से। हां, बिल्कुल पानी में ही जिनका घर है उनके पास अपना छोटा सा काम–चलाऊ शिकारा (नाव) भी रहता है। कई दुकानें बिल्कुल पानी के किनारे पर हैं। उन से खरीदने के लिये शिकारे में जाना पड़ता है। रैनावारी के कई घराने कई उद्योग–धंधों को अपने परम्परागत पेशों के रूप में सुरक्षित रखे हुए थे। इनमें मुख्य था चटाइयां बुनना। झील में चटाइयों की घास (सिंवार) उगा करती है, जो छः सात फीट लम्बी हो जाती हैं। उसको काट कर चटाइयां बुनी जाती हैं। पेपरमाशी नम्दासाजी और कालीनबाफी अब पूरी तरह से कमर्शियालाइज़ हो गई है।

कश्मीर घाटी के ग्रामीण क्षेत्र के दो मुख्य भाग माने जाते है –'कामराज' और 'मराज'।

इन भागों की भाषा और बोली के अंतरों को कभी–कभी विशेष प्रासंगिक अवसरों पर बढ़ा–चढ़ा कर सुनाया जाता है। 'कामराज़' – नीचे वाले अर्थात् सोपुर, बारामुल्ला आदि इलाकों को और 'मराज़' अनंतनाग, पहलगाम आदि के समीपवर्ती इलाके को कहा जाता है। कामराज़ तथा मराज़ के जीवनयापनस्तर का अंतर इस उक्ति में बताया जाता था :–

कामराजस मंज़ गछि ज़ेनुन
तुॅ मराज़स मंज़ गछि ख्योंन

'कामराज़ में आदमी को कमाना चाहिए और मराज़ में उसका उपभोग करना चाहिए।' स्पष्ट है कि मराज़ इलाका कामराज़ की अपेक्षा अधिक उपजाऊ और धनधान्य सम्पन्न होना चाहिए। है भी ऐसा ही। इस इलाके में पानी की कमी न होने के अतिरिक्त दूसरी वन्य–सम्पदा भी बहुत है। 'मराज़' के इलाके में मेहमान की आवभगत ठीक होती थी। 'सोपुर' (कामराज़) के लोगों के लिए यह प्रसिद्ध था कि कोई अतिथि दिन को उनके हां जाए तो खातिर न देख कर वह जब उठने लगता था तो मेजबान उससे कहते थे कि आप सुबह का बना हुआ खाना ठण्डा होने के कारण क्या खायेंगे, और हम नया बनाएं तो आप इंतजार भी नहीं करेंगे। अतः फिर मेहमान के लिए उठ चलने के सिवा कोई रास्ता ही नहीं रहता था। ''दानि त्रोव तापस, व्वोल ब खस'' – शाली धूप में डाल दी, आइए, विराजिए! (अब शाली का सूखना, उसे कूटना और फिर चावल का पकाना रह गया है) इसी तरह सोपुर का दोस्त होना भी एक उक्ति का विषय बन गया है। ''सोपुर्य यार गव कायुर नार'' – सोपुर का दोस्त, 'कैल' लकड़ी की आग समझ लीजिए जो ज्यादा देर रह ही नहीं सकती।

घाटी के लोक–जीवन में नदी वासी मांझियों का जीवन बहुत महत्व रखता है। उनकी बड़ी–सी किश्ती, जो कि बारह तेरह गज लम्बी और दो ढाई गज चौड़ी होती है – 'डूंग' या 'बहाच़' (अवधी बोली का ''बहोत'')कहलाती है। श्रीनगर में ज़ीरो ब्रिज से शुरू करके आप नदी के साथ साथ लगी हुई ऐसी सैकड़ों किश्तियां पायेंगे। पुआल या घास की छत वाली ये 'बहाचें' मांझियों के घर हैं। ये चलती फिरती हैं। अधिकतर बहाचें 'शाली स्टोर' (धान का सरकारी भंडार) से विभिन्न घाटों तक शाली (धान) ढांती हैं जहां पर वह कंट्रोल के दाम शहर भर को मिलती है। लेकिन बहाच वालों का केवल इस पर गुजारा नहीं चल सकता। इन लोगों ने विभिन्न धंधे अपनाए होते हैं। कई मुर्गियां पालते हैं–अण्डों का व्यापार करते हैं और धीरे–धीरे छोटी सी दूकानें करने लगते हैं। आप पूछ कर देखिये तो जान जायेंगे कि किसी को बेटा 'बाहर' है – व्यापार करता हैं। किसी का पूत 'मिलिट्री' में है। इस प्रकार एक ही बहाच के कुटुंब में विभिन्न पेशेवर मिलेंगे। डूंगे बहाचों से जरा भिन्न होते हैं। वे छोटे होने के कारण छोटे नावघरों (हाउस–बोटों) का काम भी देते हैं। लोगों को 'वैशाखी' या किसी रविवार को किसी मुगल बाग घूमने जाना हो तो डूंगे को दिन भर के लिए ले जाते हैं। मालिक ही अपने डूंगे को खेता है। ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं, इसलिए डूंगे वालों के पास शिकारे (छोटी नावें) भी होती हैं। ये शिकारे आप से थोड़े पैसे लेकर आपको जेहलम के आर–पार उतार सकते हैं। डल झील के नाव–घरों के मांझियों का जीवन जरा भिन्न होता है। अपने घरों को अच्छी

से अच्छी तरह और आकर्षक ढंग से सजाना कोई उनसे सीखे। फिर सभ्यता से पेश आना और टूटी–फूटी अंग्रेजी बोल लेना उनके हां पीढ़ियों से चला आ रहा है। जेहलम में भी कई बहाच़ वाले आर्थिक दृष्टि से अच्छे होते हैं। वे अपनी बहाच की छत शिंगल की बनाते हैं। उसके ऊपर दूसरी मजिल का छोटा–सा कमरा बनवा लेते हैं और अपना स्थान स्थाई बना कर बिजली पानी का स्थाई प्रबन्ध कर लेते हैं।

साधारणतया बहाच वासी गरीब हैं। उनके कमरों में शायद ही प्रकाश जाता हो कभी–कभी आप किसी गांव से चली आती हुई कोई बहाच ईटों से भरी या जलाने अथवा मकान बनाने की लकड़ी से भरी पायेंगे। हाय राम! बहाच बिल्कुल ऊपर तक पानी में डूबी है, ऐसा दिखे कि यह अब डूबी कि अब डूबी। लेकिन मांझी हैं कि निश्चिंत गाते हुए चले आ रहे हैं। बहाच़ की ही तरह लकड़ी के पांच छः सौ लट्ठे बांध कर नदी में बहाकर लाए ले जाए जाते हैं। बहाच के निवासियों के बच्चे अच्छे तैराक होते हैं। दिन रात पानी में रहते हैं लेकिन हम कभी ही उनके डूबने का समाचार सुनते हैं। प्रसिद्ध है कि मांझी का बच्चा डूब जाए तो मछली ही पकड़ लाएगा।

जलवायविक विभिन्नता का उल्लेख पहले हो चुका है। सर्दियों ने यहां के जीवनयापन के ढंग में काफी भिन्नता लाई है। कांगड़ी का उपयोग इनमें मुख्य है। कांगड़ी है क्या? मिट्टी के 'कुंडल' में आग रख कर तापी जाती है। उसे उठाने और उसके सीधे सम्पर्क के कारण जलने से बचने के लिए उसके गिर्द बेद का पिंजरा जैसा बुना जाता है। काफी लाभदायक होने के अतिरिक्त कांगड़ी लोक–कला का भी सुन्दर नमूना है। हां, कांगड़ी के उपयोग में एक विशेषता होती हैं।

पृष्ठतःस्सेवयेत् अर्कं जठरेण हुताशनम्।

आग को सामने से तापने का भी एक ढंग है। यहां के लोगों का एक लंबा, सा चोगा होता है जिसे 'पयरन' कहते हैं। इस प्रकार कांगड़ी एक आंतरिक–उष्णक का काम देती है। कांगड़ी के प्रयोग की एक प्रकिया है। कोयला दो तीन बार फूंका जाता है। फिर उस जले कोयले और गर्म राख को धीरे–धीरे हिलाते और हवा देते रहना पड़ता है। इस से कॉंगड़ी बहुत देर चल सकती है। कांगड़ी के इस प्रयोग को कश्मीरी में कांगड़ी 'जमाना' कहते हैं।

शहर के सरहदी, भीतरी भाग या रैनावारी के किसी तरफ चल कर देख लीजिए–मकानों की टीन की छतें कई प्रकार की मिलेंगी। कहीं कोई मिट्टी की छत वाला पुराना मकान मिल जाएगा। मिट्टी की छतें बनाने में एक विशेष प्रकार की कला का ज्ञान आवश्यक होता था। मिट्टी की दीवारें आप शहर में शायद कहीं और गांवों में अधिकतर पाएंगे। गांवों में भी अब मिट्टी की और घास या पुआल की छतें बहुत कम मिलेंगी। मिट्टी की दीवारों को यंदर–देवार (यन्त्र की दीवार) कहते हैं। इनका निर्माण लकड़ी के तख्तों का कालिब बना कर उसमें गीली मिट्टी भर कर उसे पैरों से दबाने से होता है। मिट्टी की छतों में घास और फूल उग आते

हैं जो बड़े सुन्दर लगते हैं। ऐसी छतें अधिक ढलाऊ नहीं होती। कश्मीरी काव्य "शिवलगन"(19वीं सदी) में उल्लेख है कि शिव उमा के यहां बैल पर सवार होकर दूल्हे के रूप में आ गए। उनके बराती भैरवगण थे। कोई और बन्धु–बांधव नहीं। पूछने पर उन्होंने अपने हाथ–पांव दिखाये। उमा की मां मैना खिन्न हुई कि उसकी फूल–सी बेटी ने किस योगी को वर लिया है। इस पर उमा जनाने से बाहर निकल कर शिव के सामने नृत्य करने लगी। शिव प्रसन्न हुए और अपना सौम्य रूप प्रकट किया। आकाश से स्वर्ण–वृष्टि होने लगी। लोग सोना समेटने लगे। वहीं एक जगह उल्लेख है–

वऽनितव लूकव कोताह चालव
पश आयि बरनय लालव सॅूत्य
कोताह वालव फ्वतॅुर्यव तॅु थालव
पश आयि बरनय स्वनशीनॅु सॅूत्य

(कहो भी, कितना सहें ? छतें हीरों से ढक गई। टोकरियों और थालियों से कितने समेटें ? हमारी छतें सुनहरी बर्फ से ढक गई।

यहां कवि का तात्पर्य उसी अपनी मिट्टी की छत से होगा। सोने की बर्फ टीन की छत पर जमा हो सकने की कल्पना शायद आधुनिक कवि भी नही कर सकते।

बर्फीली ऋतु में कश्मीर में सब प्रकार की खाद्य वस्तुएँ नहीं मिलती थीं। मिर्च–मसाले या दूसरी सब्जियां भी नहीं। एक सब्जी 'हाक' सदा बहार सब्जी है, जो आप को कश्मीर के किसी भी इलाके में किसी भी ऋतु में मिल सकती है, इसलिए कश्मीरी विनम्र होकर ईश्वर से कुछ याचना करेगा तो यही कि मुझे 'हाक भात' देते रहना। एक तो 'हाक भात' भोजन है दूसरे 'दाल रोटी' की तरह 'हाक भात' एक निचली सीमा है। सीमा के ऊपर ईश्वर जितना चाहे दे सकता है। केवल 'हाक भात' कहने में औपचारिकता भी होती है। सर्दियों में शायद ही बहुत सब्जियां मिलें, अतः कई सब्जियों को अक्टूबर नवम्बर में ही खरीदकर सुखा लिया जाता है। जैसे हाक की एक किस्म जो बथुआ साग से मिलती जुलती है– 'व्वपल हाक'। इसको सुखा कर फिर रस्सियों में बटा जाता है। गांठ गोभी भी इसी प्रकार से सुखाई जाती है। शलगम और मूली सुखाई नहीं जा सकती। अतः पुराने वक्तों में इन्हें अपने मकान के आँगन में मिट्टी खोद कर गाढ़ के रख दिया जाता था और समय समय पर उन्हें निकाल कर प्रयुक्त किया जाता था। बैंगनों को सुखा कर सुन्दर सालन तैयार किये जाते हैं। सूखे बैंगन गर्मियों में भी प्रयुक्त होते हैं। सूखे बैगनों को इमली आदि की खटाई में पकाया जाता है। टमाटर और प्याज सुखाना कोई अपवाद न हीं। सब्जियां या मांस मिट्टी की हांडियों में ही स्वादिष्ट पकता है, ऐसा विश्वास है। सूखी सब्जियों का वास्तविक स्वाद विशेष मसालों में पकाने से ही बढ़ता है। यूं तो घाटी भर में मसाले खूब खाये जाते हैं। मसाले का अधिक प्रयोग शायद यहां की जलवायु के कारण होता है। जलवायु के साथ ही यह प्रासंगिक है कि कश्मीर में माँसाहारी लोगों की संख्या काफी मिलेगी। निन्यानवे प्रतिशत मांस खाते हैं। सर्द इलाका होना इनकी वजह मानी जा सकती है। लेकिन कई और भी विचार हैं इस सम्बन्ध में।

मुसलमान, कश्मीरी या अकश्मीरी, मांस के भक्षक होते ही हैं। यहां उनकी यह आदत औरों से बढ़ चढ़ कर है। हिन्दुओं में इसका इतना प्रचलन इसलिए समझा जाता है कि कश्मीर शैवमत की जन्मभूमि और केंद्र रहा है। हिंदुओं के जीवन में मासाहार ने ऐसा स्थान बना लिया है कि कई महान धार्मिक उत्सव मांस के बिना अपूर्ण रहते हैं; जैसे श्रादध और दूसरे पितर–कर्म, जन्म दिन, ब्याह–शादी, आदि अभी दो चार दशक पूर्व तक पशु–यज्ञ का प्रचलन भी था।

चाय का प्रयोग तो हर कहीं होता है, लेकिन कश्मीरी चाय आम चाय से काफी भिन्न है। इसकी पत्ती देशी चाय की पत्ती से भिन्न होती है और इसको बनाने का ढंग भी दूसरा है। पानी में पत्ती डालकर उबाली जाती है। काफी उबलने से ही इसका "रंग निकलता है" फिर चीनी डाल कर दूसरी बार उबालते हैं। बिना दूध की चाय को 'म्वगल्य चाय'(मुगलों की) या "कहवा" कहते हैं। दो तीन प्याले या 'खोस' (कांसे के बने हुए कप) हर आदमी पी ही लेता है। कभी अतिथि की खातिर करने के समय उसमें दूध डाला जाता था, तो वह 'डबल' चाय बन जाती थी। इसके अलावा नमकीन चाय (शीर्य चाय) का बहुत रिवाज है। बनाने में कोई विशेष अन्तर नहीं। चाय अधिकतर समावार नाम के एक पात्र में बनती है। 'समावार' (Samovar) का उल्लेख रूसी साहित्य में काफी हुआ हैं; क्योंकि रूस में भी इसका इस्तेमाल होता है। रेलवे स्टेशनों पर पानी गर्म करने वाले पीपे से रहते हैं जिनके भीतर की भट्टी में आग रहती है और पानी उबलता रहता है। इसी का छोटा रूप समावार है।

सर्दी से बचने के लिये कई साधन अपनाए जाते हैं, लेकिन शराब आदि मादक वस्तुओं का कम प्रयोग होता है। कहीं मिले तो गार्हस्थिक जीवन से दूर ही नशे की अन्य कई वस्तुओं का प्रचलन अवश्य है। जैसे तंबाकू (जो कि बूढी स्त्रियां भी पीती हैं) के इलावा नसवार का प्रयोग। नसवार वृद्ध पुरुष और स्त्रियाँ दोनों सूंघती थीं। सूंघने के अलावा नसवार का एक और उपयोग दांतों में लगा कर भी होता था। उत्तर प्रदेश आदि प्रांतों में जैसे पान से दांतों का लाल बने रहना अभिजात्य का एक चिह्न है, उसी प्रकार यहां के लोगों के दांतों पर नसवार की परतें जम जाती थी। इन आदतों में पुरुष स्त्री का या हिन्दू मुसलमान का कोई अन्तर नहीं पाया जाता था। धार्मिक भेद ने जीवन की सहजता के बीच कोई बाधा उत्पन्न नहीं की है। शहर के धन्धों की बात करें। एक दो धन्धे काफी प्रचलित थे। गांव में अधिकांश घरों में "यंदुॅर" (यंत्र–चरखा) चलता था। लोइयां बनती थीं और ये लोइयां फिर शहर में बिकने को आती थी। शहर में भी यंदुॅर चलते थे। यंदुॅर का निकला धागा अब भी पश्मीने या तूस की लोई(शाल/दुशाला) बनाने के काम आता है और कई लोगों के लिए इस प्रकार सहायक आय हो जाती है। कुछ हिन्दू घरानों की स्त्रियां 'पयरन' की 'डूरें'(डोर) स्वयं बुनती थी। पयरन के दामन में, जेब के इर्द–गिर्द और गले के किनारे के साथ साथ यह डोर लगती है। ढाई इंच चौड़ा डोरा सा बुना जाता है जो फिर बेचा जाता है। पयरन का प्रयोग कम होने के साथ ही डोर बुनने का धंधा भी खत्म हो गया है।

यहां का श्रृंगार भी विशिष्ट है। गांव की स्त्रियां अपने सिर के बालों को रस्सियों की

तरह बट कर उनकी वेणियां बनाती हैं जो संख्या में दो ढाई दर्जन होती हैं। यह वेणियां लटका के कानों के पास दाएं बाएं बांधी जाती हैं। इसके अलावा यहां की खड़ाऊं विशेष होती है, जो जमीन से चार पांच इंच ऊंची होती है। लकडी की एड़ी के भीतर एक कंकरी रखी जाती है। चलने पर उस में से बजने की आवाज निकलती है। ऐसी खड़ाऊं को रौनिदार (घुंघरू–वाली) खड़ाऊं कहते हैं। पहले लड़की को दहेज में ऐसी खड़ाऊं के कई जोड़े दिए जाते थे। इस पर कलात्मक नमूने खुदे, और रंगे होते हैं। ऊंची खड़ाऊं का प्रयोग बर्फ पर चलने के समय होता है।

गर्मी में कश्मीर में वेश–भूषा में विशेष अंतर नहीं पड़ता। कहते है कि किसी देश की संस्कृति के अवशेष गृहणियों में बचे रहते हैं। फ्यरन सभी का समान होता है। केवल मुसलमानों का फ्यरन जरा छोटा और हिंदुओं का लम्बा होता है। स्त्रियों के फ्यरनों की एक विशेषता है कि वे मर्दों से अधिक ढीले ढाले होते हैं। घर का सब काम–काज, सब जिम्मेवारी स्त्री के ही कंधों पर होती है। अतः उसके फ्यरन के ऊपर एक 'लुंगी' बंधी रहती है जो एक कमरबंद का काम देती है। लुंगी की कल्पना ही लोक–जीवन में स्त्री की स्फूर्ति और कार्य–तत्परता का संकेत करती है। मुसलमान स्त्रियां सिर पर 'कसाब' पहनती हैं। ग्रामीण मुसलमान स्त्रियों का कसाब पांच छः इंच ऊंचा रहता है और उसको काले सिरों वाली पिनों से बांधा तथा सजाया जाता है। शहरी स्त्रियों के बुर्के के तले कसाव कदरे छोटा होता है। उच्च घरानों के कसाव नहीं के बराबर ही रहते हैं। फ्यरन के गले पर कढ़ाई के सुन्दर डिजाइन रहते हैं। स्त्रियों के कानों में दर्जन भर चांदी के बड़े–बड़े कुण्डल लटकते हैं।

हिंदू स्त्रियां सिर पर 'तरंग' बांधती हैं। (सिर के ऊपर लंबे तूलदार लट्ठे की चिकनी लटें एक दूसरे के ऊपर लपेटी जाती हैं जिसे तरंग कहते हैं) पुरुष पगड़ी बांधते हैं लेकिन पगड़ी और तरंग के बांधने में फर्क है। तरंग केवल माथे के जरा ऊपर भौहों के समानांतर बांधा जाता है। सिर पर कपड़े का एक टोप सा 'कलपुश' (सिर का पोश) पहन कर फिर उसके ऊपर तरंग बांधता हैं। पीछे से आप एक लटकती हुई कपड़े की लट (पूच़) भी पाएंगे जिसकी दो नोकदार बटी हुई शाखें होती हैं। तरंग बांधते समय इस 'पूच' का ऊपर का सिरा उसीमें खोंस दिया जाता है। मुसलमान स्त्रियों की पूच चौड़ी होती है। तरंग बांधने वाली स्त्री मुहल्ले भर में एकाध ही निकले। ऐसी स्त्री सम्मान पाती है। विवाह में लड़की के सिर पर यह अनिवार्य रूप से बांधा जाता है। बाद में वह उसे रहने दे या उठा दे। इसी सम्बन्ध में लड़की के विवाह पर गाया जाने वाला लोक गीत यों है :

वोवुर्य ओंनुय त्वरॅ दार
दो'ब्य ओ'नुय मायॅु दार
बखतावार कूरी गंड तरंगय।

''–जुलाहे ने सोने के फुंदने वाला और धोबी ने माया (कलफ) दार 'तंरग' तुम्हारे लिये लाया। री भाग्यवती बिटिया, 'तरंग' बांधो!'' आजकल दुल्हनें विवाह के दिन फ्यरन के स्थान पर साड़ी ही पहनती है, पर तंरग अभी भी बांधा जाता है।

स्त्रियों के बारे में कहते हैं कि वे अपना गुह्य रहस्य भी 'यारॅबल काकन्य' के सामने प्रकट करेंगी। 'यारॅबल काकन्य' का अर्थ है "नदी के घाट पर की सखी।" घाटों पर साधारणतः स्त्रियों में बहुत बातें होती है। पहले जब नलों का प्रबन्ध न रहा होगा तब इस बातचीत के विषय सीमित होते होंगे। स्पष्ट है कि पढ़ी–लिखी न होने के कारण इन के विषय एक स्त्री पर टीका–टिप्पणी, दूसरी की आलोचना और सास–देवरानी–जेठानी रहे होंगे।

कई अकश्मीरी मित्रों का कहना है कि धार्मिक दृष्टि से कश्मीर के हिंदू अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखे हुए हैं। हमारे धार्मिक मन्त्रों का उच्चारण अधिसंख्य मुसलमानों की संस्कृति और कुछ ऐतिहासिक संघर्षो के कारण अलग सांचे में ढल गया है। शंख की आवाज ही लें। यह स्पष्ट ही उस भारतीय शंख से नहीं मिलती जुलती जिस का वर्णन भगवद्गीता में आया है और जिस का अपरिवर्तित रूप आजकल भारतीय अकश्मीरी हिंदुओं में पाया जाता है।

ऊपर कई एक मुहावरों में लोकजीवन की परछाइयों का अंकन हुआ है। हमारा ध्यान एक और ऐसी ही उक्ति पर जाता है जो ऐतिहासिक सत्यनिरूपण के साथ ही जन–जीवन की एक झांकी दिखाती है। लड़की का ब्याह शहर मे किस ओर के घराने में करना चाहिए इस के बारे में प्रसिद्ध था कि –

कूर दिज़्यन न रॅन्यवारि
दो'ह गछ्यस नऽट्य सारि
ग्वतान्य कूर पान मारि

लड़की का ब्याह रैनावारी में नहीं करना। वहां तो उस का दिन घड़ों में पानी भरने और फिर उसे ढोने में ही निकल जाएगा। ऐसे ही,

कूर दिज़्यन न व्ये'जिब्रारि
दो'ह गछ्यस ये'जि सारि
तति कूर पान मारि

लड़की का ब्याह बिजबिहाड़ा में न रचाइयो। दिन भर उसे लकड़ी आदि के गट्ठे ढोने पड़ेगे। यूं वह रोती पीटती रहेगी।

कूर दिज़्यन न ईशॅ़ु बरि
सिरियि खरयस सति गरि
ग्वताम कूर ब्वछि मरि

लड़की का ब्याह इशबर (निशात के निकट) में नहीं करियो। वहां सूर्य सात घड़ी दिन

हुए उगता है तब तक वह भूखी मरेगी।

दशकों पहले की बात है कि तब रैनावारी में नल नहीं लगे थे। कहीं दूर एकाध सरकारी बांबी लगी होती। अतः घर की बहू बेटी को दूर दूर से पानी ढोना पड़ता था। इस का संकेत इन उक्तियों में मिलता है।

कश्मीर में एक धर्मावलंबी (मुसलमान) दूसरों से संख्या में अधिक हैं। इसके कई ऐतिहासिक कारण हैं लेकिन यह बात आज कश्मीरियों के लिए सत्य है। राजनैतिक झगड़े अवश्य रहे और शासन के प्रति विद्रोह भी। लेकिन आज से पहले धार्मिक संकोच ने हमेशा क्रूर रूप धारण नहीं किया था। आज स्थिति बिल्कुल वैसी नहीं। फिर भी यह सत्य है कि आज के कठिन समय में और राजनैतिक टकराव के माहौल में हिंदुओं और मुसलमानों के व्यक्तिगत संबंध बहुत हद तक बने रहे हैं।

डॉ० रतनलाल शांत

जन्म : 14 मई, 1938
बडियार बाला, श्रीनगर, कश्मीर।
आजकल विस्थापित होकर जम्मू में।

शिक्षा : एम०ए० डी०फिल० (इला०)

व्यवसाय : 37 वर्ष अध्यापन के बाद अवकाश।

संप्रति : स्वतंत्र लेखन। समालोचना के
अतिरिक्त कविता, नाटक, कहानी।
कश्मीरी में भी।

प्रकाशन : खोटी किरणें, कविता अभी भी (कविता)
पोशिमाल, नुंद ऋषि, (रसूलमीर, नुंद
ऋषि –– कश्मीरी से अनूदित) त्रिभाषा कोश
(सह संपा०) (हिंदी निदेशालय)
बरौनियों पर पहाड़ (कहानी–कश्मीरी)
कहानी क्या है? (आलोचना–कश्मीरी)
तीन बहनें (चेखव का अनुवाद–कश्मीरी)
गद्य की किताब (संपा०–कश्मीरी)

प्रसारण : करीब चार दर्जन नाटक, एक दर्जन धारावाहिक
नाटक (हिंदी, उर्दू, कश्मीरी) आकाशवाणी, दूरदर्शन
से।

प्रकाशनीय : "समेक"(समालोचना)" आवाज़ों के अर्थ ("नादिम"
का अनुवाद, कश्मीरी से) कश्मीरी कहानी आज
और कल (आलोचना–कश्मीरी)"घर बदलते हैं"
(रमापद चौधुरी (बंगला) का अनुवाद–कश्मीरी में)
"हिंदोस्तान"(अलबेरूनी का अनुवाद–कश्मीरी में)

संपादन : कश्यप (श्रीनगर) कश्यप समाचार, क्षीरभवानी
टाइम्स(जम्मू–अभी तक)

पुरस्कार/सम्मान : राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक, ज०क० राज्य कल्चरल
एकेडेमी पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार,
सौहार्द सम्मान (उ०प्र० हिंदी संस्थान लखनऊ)
हिंदीतर भाषी हिंदी लेखक सम्मान (हिंदी निदेशालय,
मानव सं० वि० मंत्रालय (दिल्ली)
फेलोशिप(संस्कृति मंत्रालय, दिल्ली)।

पता : 904. सुभाष नगर, जम्मू – 180005

